भारत का वैकल्पिक भविष्य: कुछ झलक

अशीष कोठारी एवं के. जे. जॉय

यह दो लेख 'ऑल्टेर्नेटिव फ्युचर्स: इन्डिया अन्शैकल्ड' किताब जो २०१७ में छपी थी, से लिये व अनुवादित किये गये हैं। उस किताब के छपने के बाद कई साल गुज़र गये हैं, पर हमें लगता है कि अभी भी इनका सन्देश व अर्थ महत्वपूर्ण है।

पहला लेख पुस्तक के परिचय के रूप में था, व दूसरा लेख एक समापन के रूप में

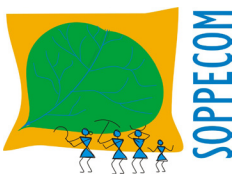

२०२३

यह दो लेख 'ऑल्टेर्नेटिव फ्युचर्स: इन्डिया अन्शैकल्ड' किताब जो २०१७ में छपी थी, से लिये व अनुवादित किये गये हैं। पहले लेख में दिये गये नम्बर, अंग्रेज़ी किताब के अलग लेखों को दर्शाते हैं ।

उस किताब के छपने के बाद कई साल गुज़र गये हैं, पर हमें लगता है कि अभी भी इनका सन्देश व अर्थ महत्वपूर्ण है।

अनुवाद: **सीमा बजाज**

सम्पादकीय सहायता: **आँचल**

पुस्तिका का डिज़ाइन: **मॅरियन झुंजा**

कवर पर इस्तेमाल किये गये चित्र महाराष्ट्र राज्य के वर्ली आदिवासी के पारम्परिक चित्रकला से लिये गये हैं। पुस्तिका के अंदर इस्तेमाल किये गये चित्र मॅरियन झुंजा के हैं।

विजय भारतीय ने इन लेखों का अनुवाद करने का जो प्रोत्साहन दिया, उसके लिये आभार

इन लेखों पर कोइ कॉपीराइट नहीं है, लेकिन इस्तेमाल करते वक्त लेखक, चित्रकार व किताब का ज़िक्र जरूर करें।

सहयोग राशि - मात्र ५० रुपये

भारत का वैकल्पिक भविष्य : एक परिचय

अशीष कोठारी एवं के. जे. जॉय

इस किताब के विषय में

भविष्य की कल्पना एक जोखिम भरा काम है. इतिहास की समझ कितनी भी अच्छी हो और उससे जो सीखा है उसके प्रति कितनी भी गहरी आस्था हो, अच्छी से अच्छी तकनीक या पद्धति का प्रयोग या व्यवस्था का मजबूत प्रतिरूप, इस सब के बाद भी भविष्य की कल्पना गलत हो सकती है. पर फिर परिकल्पना के सही होने की संभावना भी है ; जो कि हमारी वर्तमान की घटनाओं को इस तरह प्रभावित कर सकती है कि कम से कम इसके कुछ सच साबित हो जाएं. हम यदि विज्ञान के काल्पनिक कथा साहित्य को ही देखें तो पता चलता है कि कितनी ही बार वह वैज्ञानिक तथ्य में बदला है!

हमने इस अंक के लेखकों की अद्भुत आकाशगंगा से संक्षेप में यही आग्रह किया था कि यदि वे ऐसे किसी ऐसे परिदृश्य में डूब सकें, एक पल के लिए, बिना 'वास्तविक' और 'संभव' की जंजीरों में स्वयं को बांधे, जहां कल्पनाएं स्वच्छंद हों, तब वे भविष्य को कैसा देखेंगे. परंतु, चूँकि हम यह नहीं चाहते थे कि पूरा अभ्यास सिर्फ कल्पना में ही रह जाए, लेखकों से यह भी कहा गया कि वर्तमान परिपेक्ष्य से वह अपने लेख को जोड़ें, उदाहरण वास्तविकता से लें और अतीत या वर्तमान की उन घटनाओं को ध्यान में रखें जो इन परिकल्पना के सच होने की संभावना को इंगित करती हैं. इस निबंध संग्रह में सतर्कता बरतते हुए उत्साह पूर्ण कल्पनाशीलता को स्थान दिया गया है और हम विश्वास करते हैं कि हमें दिशा, आशा और भविष्य की तस्वीर देने में इन सबका महत्व है.

इस पहले निबंध में हमने इस संग्रह का अवलोकन प्रस्तुत किया है, साथ ही सभी निबंधों को मानव अस्तित्व के चार मुख्य हिस्से, चार वृत्त - राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और पारि-स्थितिकीय में समेटा है. अंतिम निबंध में हम विस्तार से इन क्षेत्रों की बात करेंगे व भविष्य में न्याय क्षमता और पारिस्थितिक समझ का क्या स्वरुप हो, इस पर चर्चा करेंगे. हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जो चार वृत्त का ढांचा हम पहले व आखिरी दोनों निबंध में ले रहे हैं, उसका आधार विकल्प संगम या ऑल्टरनेटिव कनफ्लुएंस द्वारा निरंतर चलने वाली संवाद व अनुभव सांझा करने की प्रक्रिया है, साथ ही आदर्श विकल्प पर पूर्व के हमारे कुछ काम भी हैं जिन्हें मौलिक प्रजातांत्रिक पारिस्थितिक या ईको स्वराज कहा गया है (उदाहरण के लिए देखें कोठारी 2014).

इस अंक के 32 विषयगत निबंधों को चार वृत्त में बांटना भी दोषपूर्ण है क्योंकि निबंध और जिन विषय से वो संबद्ध हैं, साफ-साफ किसी एक क्षेत्र में केंद्रित नहीं किये जा सकते हैं, और वृत्त एक दूसरे की सीमा में हस्तक्षेप करते हुए मिलते से हैं (कुछ-कुछ अंतर्राष्ट्रीय खेलों के चिन्ह के समान). इस तरीके की सीमा निर्धारण के शैक्ष-णिक चंगुल में जाने से हम बचेंगे, पर यहां हम यह स्पष्ट करेंगे कि यह ढांचा हमें विश्लेषण का एक आधार, साथ ही भविष्य के लिए एक दृष्टि देता है..

भविष्य के कुछ मुख्य कारक

पारिस्थितिकीय भविष्य

भारत का संकटपूर्ण पर्यावरण आज शोध, सक्रियतावाद और क्रियान्वयन का विषय है. पारिस्थितिकीय (इको सिस्टम) और जैव विविधता की क्षति, जलवायु और मिट्टी का प्रदूषण, उपजाऊ मिट्टी का कटाव व और भी कई समस्याएं यह दर्शाती हैं कि भारत में मानव जीवन का अस्तित्व सुरक्षित नहीं है (वैसे तो पूरी दुनिया का हाल एक जैसा ही है, जैसा कि हाल के अध्ययनों से सामने आया है कि कैसे हमने अपने ग्रह को प्रदूषित करने की हर सीमा को पार कर लिया है, विशेषकर रॉकस्ट्राम का अध्ययन, 2009). ऐसी परिस्थिति में हमको कैसे भविष्य की कल्पना करना चाहिए कि पारिस्थितिकीय पतन से नष्ट होती हमारी दुनिया को बचाया जा सके?

क्या होना चाहिए, इस दिशा में यह साफ़ है कि जैव विविधता व पारिस्थितिकीय की रक्षा सबसे जरूरी कदम है. पिछले कुछ दशकों में इस दिशा में अच्छे प्रयास हुए भी हैं, सरकार द्वारा भी और अन्य संगठनों द्वारा भी. इसके अंतर्गत संरक्षित क्षेत्र व किसी प्रजाति विशेष को कानूनी संरक्षण, वनों को निश्चित उपयोग के लिए सुरक्षित करना, व अन्य कई सरकारी प्रयास दिखाई देते हैं ; साथ ही ऐसे व्यापक सामुदायिक प्रयास भी हैं जहां प्राचीन पर-म्पराओं का सम्पोषण है, जैसे पवित्र प्रकृति की मान्यताएं या फिर प्रकृति के ह्रास, जंगली जानवरों की संख्या में गिरावट या उत्पन्न हो रही अन्य कमियों के लिए नई परम्पराओं का निर्माण. खेद की बात है कि पहले कदम के अधिकाँश प्रयास बहिष्करण संरक्षण प्रतिमान के अंतर्गत हैं जहां लोगों को प्रकृति से दूर कर दिया गया है ; और वहीं दूसरी ओर पारिस्थितिकीय महत्व के क्षेत्र, राज्य बड़ी उदारता से तथाकथित प्रगति की योजनाओं, जैसे खनन व डैम इत्यादि, के लिए दे देते हैं.

इस अंक में **कार्तिक शंकर, मीरा अन्ना उम्मेन** और **नितिन राय** ने वर्तमान की समस्याओं की ओर इशारा किया है व आर्थिक-उदारवाद ने कैसे विभिन्न रूप में उत्पाद आधारित प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है, इसकी बात की है. उन्होंने ऐसे समग्र दृष्टिकोण की बात भी रखी जिसमें संरक्षण के साथ सामाजिक और पर्यावरण न्याय जुड़ा हो और साथ ही पारिस्थितिक समानता का प्रस्ताव रखा, जिसका लक्ष्य ग्रामीण क्षेत्र में संरक्षण के बेहतर उपाय व स्थानीय-पारंपरिक की पहचान, भूमि के विविध उपयोग, जैविक-सांस्कृतिक विविधता हो. संरक्षण के हर प्रस्ताव में समुदाय को साथ जोड़ना होगा व उनके पारम्परिक ज्ञान में समाहित मूल्य और नैतिकता का आधार लेकर न्याय करना होगा जिस से असमानता से लेकर शोषण जैसे विषयों पर सही दृष्टिकोण बन सके.

यह साफ है कि इस विचारधारा के सहारे ही भारत में पर्यावरण प्रशासन के वर्तमान ढांचे पर प्रश्न उठाया जा सकता है. **शरतचंद्र लेले** व **गीताञ्जोय साहू** कहते हैं कि हालाँकि भारत में पर्यावरण सुरक्षा के लिए कई सारे कानून विद्यमान हैं, सजग न्यायतंत्र का सहयोग भी है (जिसने जीवन के संवैधानिक अधिकार में साफ़ पर्यावरण के अधिकार को शामिल किया) पर पर्यावरण की मौजूदा स्थिति ठीक नहीं है. वर्तमान में पर्यावरण प्रशासन की चिंता के चार मुख्य कारण हैं : नियामक विफलता, सक्रिय न्यायपालिका की सीमा, नव-उदारवाद प्रगति विचार का प्राबल्य व यह मान्यता कि संरक्षण ही पर्यावरण है. लेखक का तर्क है कि पर्यावरण सुशासन के भविष्य के लिए पर्यावरणवाद को जीवन जीने के रूप में अंगीकार करने का आशय है - जीवन की गुणवत्ता, सम्पोषण व पर्यावरण न्याय. इसके साथ ही संस्थागत ढांचे पर दोबारा काम करना होगा कि वह भौतिक व सामाजिक न्याय के लक्ष्य को पूर्ण करे. बेहतर पर्यावरण के लिए मूल्य व्यवस्था में बदलाव, सामाजिक न्याय के प्रति चिंता और प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में विश्वास आवश्यक है.

भारत के प्राकृतिक संसाधनों का एक घटक जो लगातार गहरे संकट से जूझ रहा है वह है जल. हम एक ऐसी विपरीत स्थिति को देखते हैं जहां देश की हर संस्कृति, हर समुदाय में जल को पवित्र माना गया है व नदी - समुद्र को ही मानव जीवन के अस्तित्व के जनक रूप में देखा जाता है, फिर भी हमने जल का पतन इस स्तर तक कर दिया है कि यह प्रदूषित, अतिक्रमणित, अतिशोषित है या लगभग नष्ट पारिस्थितिक स्थिति में है. विभिन्न उपयोगों के लिए जल तक पहुंच में विषमता साफ़ दिखती है. भारत के अधिकाँश हिस्से में जैसे-जैसे जल संकट गहराता जा रहा है, यह आवश्यक हो गया है, कि, प्रकृति के इस महत्वपूर्ण तत्व, जल, के प्रबंधन की ओर ध्यान केंद्रित किया जाये.

इसी विषय पर **श्रीपद धर्माधिकारी** एवं **हिमांशु ठक्कर** ने जोर देते हुए लिखा है कि जल पर मानव के अधिकार की वृत्ति व जल प्राप्ति में असमानता को दूर करके जल को पारिस्थितिकीय के महत्वपूर्ण हिस्से व उसके बहुमुखी मूल्य (सांस्कृतिक, आर्थिक व स्थायित्व) के रूप में देखने की ज़रूरत है. बुनियादी मूल्य जैसे संपोषण या स्थायित्व, कुशलता, समानता व लोकतंत्रवाद आदि कीओर दृष्टिकोण को मोड़ने की आवश्यकता है. लेखकों ने, सरकारी महकमा व गैर-सरकारी कार्यकर्ता, दोनों ही क्षेत्र के आशापूर्ण उदाहरण और भविष्य के दृष्टिकोण के तत्व के साथ संस्थागत बदलाव से प्राप्त उपलब्धियां प्रस्तुत करते हुए, सफल उदाहरणों का निर्माण व बड़े स्तर पर उनकी वृद्धि और प्रतिकृति का प्रस्ताव रखा है.

समपोषित और सही पारिस्थितिकीय भविष्य, सामाजिक व आर्थिक इकाई, जिस की हम आगे बात करेंगे, के आधार में ऊर्जा का मुद्दा है. पर्याप्त ऊर्जा तक पहुंच, मानव कल्याण को मापने का एक महत्वपूर्ण घटक है. जलवायु परिवर्तन के साथ ऊर्जा के स्त्रोत और ऊर्जा उत्पादन के तरीकों की स्थिति नाजुक है.

हरीश हांडे, विवेक शास्त्री और **रचिता मिश्रा**, सामर्थपूर्ण, साफ ऊर्जा तकनीक की उपलब्धता, जो विकास के लक्ष्य व पर्यावरण गुणवत्ता की कसौटी पर उत्तीर्ण हो , के पक्ष में तर्क देते हैं . इसके केंद्र में विकेंद्रित अक्षय ऊर्जा (Decentralized Renewable एनर्जी - DRE) को प्रोत्साहित करना है, जिससे कि समाज के सबसे गरीब तक आधुनिक ऊर्जा सेवाओं की पहुँच की संभावना विकसित हो. अनेक नीतियों से जुड़ने के फलस्वरूप, और संपोषणीय विकास और संसाधनों के न्यायसंगत बंटवारे के लिए आवश्यक आर्थिक-तकनीकी बदलाव की संभावनाओं को यह निबंध सामने रखता है. ग्रामीण और शहरी विभेदित जनसंख्या के लिए ऊर्जा तक पहुंच को सुनिश्चित करने के लिए लेखक ने, DRE के विस्तार और एकीकरण, निम्न कार्बन उत्सर्जन ग्रामीण विकास नीति अभिसरण, आजीविका के रूप में ऊर्जा उद्यम, और समुदाय संसाधन केंद्रों की पहल पर प्रकाश डाला है. भारत में ऊर्जा का भविष्य सहयोगात्मक अर्थव्यवस्था के निर्माण में है जहां ऊर्जा उपभोग के स्वरूप में बदलाव को प्रोत्साहन दिया जाए और ऊर्जा स्वामित्व की अपेक्षा ऊर्जा सेवाओं तक पहुँच को बेहतर समझा जाए.

राजनीतिक भविष्य

बल आधारित संबंध समाज में सभी तरह की परस्परता का हिस्सा हैं, आपसी और पारिवारिक जीवन से लेकर वैश्विक नियमन तक. यह सभी संबंध एक तरह के जटिल पदक्रम, असमानता और संपूरकताओं का जाल होते हैं. इस अंक में हम 'राजनीतिक' शब्द के प्रयोग में विभिन्न सम्मिलित प्रक्रियाएं और गाँव- शहर (या इनमें चल रही सम्मिलित प्रक्रिया) से राज्य, राष्ट्र और विश्व के सभी स्तर पर निर्णय के अधिकार वाली सभी संस्थाएं को शामिल करेंगे.

कई प्रकार से भारत एक सघन पदानुक्रमिक समाज है, जहां शक्ति में असमता, परिवार से लेकर राष्ट्र तक, जीवन के हर क्षेत्र में दृष्टिगत है. जाति, जनजाति, लिंग, संपत्ति और प्रतिष्ठा आधारित परंपरागत असमता ने आज व्यक्ति के सत्तारूढ़ पदक्रम के साथ जुड़कर बाजार में पूंजीवाद के प्रभाव को बढ़ाया है. इन सब का आपसी संबंध जटिल व विरोधाभासी है, पर प्रमुख यह है कि समाज में ताकत आधारित असमताएं व्याप्त है. लोकतंत्र की जिस प्रतिनिधि व्यवस्था को भारत ने अंगीकार किया है उस से भी इस स्थिति में मूलभूत परिवर्तन लाने में सफलता नहीं मिली है, उस संभावित लाभ के बावजूद जो कि वंचित समुदाय की विशाल जनसंख्या के बहुसंख्यक वोट से हो सकता है. ऐसी स्थिति में, बेहतर राजनीतिक समता और सबकी पहुंच के समाज को बनाने के लिए कैसे बदलाव आवश्यक हैं.

एम पी परमेश्वरण एक ऐसी ग्रामीण इकाई की कल्पना करते हैं जो राजनीतिक, आर्थिक व अन्य मामलों में स्वयंसिद्ध हो, इसके बारे में विस्तार से 'आर्थिक भविष्य' अध्याय में हमने लिखा है.

पल्लव दास शक्ति पर अपने निबंध में, पारम्परिक और नए पक्षपात की रुपरेखा को सामने रखते हैं, और टिप्पणी करते हैं कि वस्तुस्थिति में बदलाव के किसी भी प्रयास का, राज्य या अन्य शक्तियों द्वारा हिंसक विरोध बढ़ता जा रहा है. समुदायों की परंपरा में विरोध के स्वाभाविक रूप की जड़ें थीं, उसकी वे समीक्षा करते हैं और प्रश्न करते हैं कि ' सर्वमान्य ' को आधार बनाकर, क्या इनसे कोई समानाधिकारवादी रास्ता निकल कर आ सकता है? वह यह सुझाव देते हैं कि जन आंदोलन और प्रगतिशील ताकतें मिलकर एक ' नया शक्ति संगठन ' बना सकती हैं जिसके पास अनुभव भी हो और प्रेरणा भी हो कि वर्तमान शक्ति के ढांचे और उसकी अर्थव्यवस्था शोषक व पर्यावरण नाशक नीतियों को चुनौती दे सके.

अरुणा राय, निखिल डे और **प्रविता कश्यप**, प्रशासन को जिम्मेदार बनाने के अपने ज़मीन से जुड़कर किये गए कार्यों से प्राप्त अनुभव की मदद से भारतीय लोकतांत्रिक ढांचे में आवश्यक बदलावों की समीक्षा करते हैं. पारदर्शिता, जवाबदेही, वेतन और समुदायिक अधिकारों की मांगों को लेकर कई लोकप्रिय जन आंदोलन हुए जिन्होंने समस्त नव-उदारवादी ढांचे की चूलें हिला दीं. सूचना के अधिकार और सुनिश्चित रोजगार जैसे अभियानों से सहभागीय लोकतंत्र की प्रकृति और चुनौतियों की हमारी समझ विकसित हुई. यह देखा गया कि नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था और राजनीति के बावजूद, असम्भव भी हासिल किया जा सकता है. विभिन्न जमीनी स्तर के सामाजिक आंदोलनों के इंद्रधनुषीय गठबंधन की मदद से प्रत्यक्ष लोकतंत्र के विचार का वो प्रस्ताव रखते हैं, कुछ-कुछ जैसा कि दास ने प्रस्तावित किया है. ऐसा संयोजन विचारों के आदान- प्रदान का अवसर देगा जिस से निकलकर आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों के साथ पारिस्थितिकीय अधिकारों के समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार होगी।

कानून, राजनीतिक ढांचे का एक महत्वपूर्ण घटक है. भारत का संविधान जटिल है व संसार की सबसे बड़ी वैधानिक इकाईयों में से एक है, कानून की इसकी व्याख्या अपने आप में अभिनव है. **अर्पिथा कोडीवरी**, कानून में संभावना व न्याय की सीमाओं को तलाशती हैं, प्रभावित करने वाले कारकों (सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक) का वर्णन करती हैं, और तीन मुख्य चुनौतियां सूचीबद्ध करती हैं: न्याय तक पहुँच, कानून की सामाजिक स्वीकार्यता, और अन्याय के बहुविध प्रकार. विकेन्द्रीयकरण के सिद्धांत, समता और न्याय वितरण में मौलिकता की मदद से वह ऐसे न्यायिक भविष्य की बात करती हैं जहां सामाजिक लोकतंत्र हो. वह ऐसी विधान परिषद व न्यायिक तंत्र का प्रस्ताव रखती हैं जिसमें कानून बनाने की प्रक्रिया के साथ न्यायिक विवाद सुलझाने में भी नागरिकों की सहभागिता हो. इसके केंद्र में, ऐसे मध्यस्थता केंद्र बनाने की बात है जो कि कानून व समाज के बीच निरंतर संबंध स्थापित करने में मदद करें, जिस से पहचान की परतों और जटिल धारणाओं को खोला जा सके.

भारत में निरंतर चर्चा में रहने वाला जो प्रसंग है, विशेषकर बुद्धिजीवियों के बीच जहां समाज के विभिन्न पहलुओं को लेकर चर्चा होती है, वो है, विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के बीच का संबंध, या विभिन्न सिद्धांतवाद और दार्शनिक परंपराएं जिनका राजनीति में विलय हुआ है. चर्चा अक्सर लोगों के बीच दरार उत्पन्न करती है, जैसे गांधी के सामने अंबेडकर या मार्क्स, या कोई भी और या कोई धर्म और अध्यात्मिकता के सामने तर्कसंगतता, या परंपरा के सामने आधुनिकता. क्या इन अंतर को पाटने का कोई उपाय है, क्या इन सिद्धांतों या दर्शन में ऐसा कुछ खोजा जा सकता है कि सब भिन्नताएं एक वृहद समागम पर पहुचें या विभिन्नता में एकता का स्वरुप बने जो न्यायसंगत, सही और सम्पोषित समाज के फलन में मदद करे?

आदित्य निगम व **भारत पाटणकर** इस चुनौती को अलग तरह से प्रस्तुत करते हैं. आदित्य निगम 20वीं सदी के प्रारम्भ से मध्य तक के कुछ महत्वपूर्ण भारतीय विचारकों को उद्धृत करते हुए कट्टरपंथी सामाजिक लोकतंत्र का विचार रखते हैं, भविष्य के लिए ऐसा विचार जो लोगों की सामाजिक चेतना में बदलाव के अम्बेडकर के प्रस्ताव से मेल खाता है. प्रयोग के तौर पर यह ‘ सांझा ’ के विचार पर आधारित है जिसमें कि संसाधन सबके साँझा हों. कट्टरपंथी सामाजिक लोकतंत्र का आधार ऐसी व्यवस्था हो जो कि कुछ ताकतवर प्रभावशालियों के चंगुल में फंसे बिना ऐसी संस्थागत व्यवस्था को खड़ा कर सके जो विविधता के भविष्य की परिकल्पना के लिए संभावनाओं का निर्माण करे. इसके फ़लस्वरूप लोगों को कम से कम ऐसे अवसर उपलब्ध हों कि मुश्किल सवाल सामने आने पर सरल उत्तर या सरल रास्ते चुनने की अपेक्षा लोग सोच समझ कर विभिन्न परिणामों को तौलकर निर्णय लें. यह राज्य के लिए समाजवाद मुक्ति की स्थिति होगी, ज़मीन से जुड़कर जीवन जीने के असल प्रयोगों से गहराई से जुड़ना और उसके सिद्धांत और धारणाओं को उनकी मदद से समझना. इस तरह और अन्य उपायों से भी, इस व्यवस्था में, इतिहास से मुक्त होकर, गांधी, अंबेडकर, एमएन रॉय, इकबाल, टैगोर व अन्य तार्किक विचारकों की विचारधारा में एकात्म दिखता है जिनको अन्यथा विरोधी समझा जाता है.

पाटणकर सिद्धांत के दृष्टिकोण से इसे रखते हैं. वह विभिन्न परतों के ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धांत का तर्क प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार मनुष्य का अस्तित्व सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आदि का गठजोड़ है, और जो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग, संघर्ष से विकास व भविष्य के समाज की उसकी कल्पना की क्रमागत उन्नति से पनपता है. बहुरेखीय आलोचनात्मक सिद्धांत को विकसित करने के प्रयास में लेखक, अम्बेडकर, फुले, मार्क्स और कोसंबी आदि के लेखन से प्रेरणा लेते हैं. लेखक के अनुसार मुक्त मानव समाज एक स्वप्न है जो सच हो सकता है, यदि पूर्ण बदलाव के लिए इस तरह के सिद्धांत को मूल में रखा जाए.

अंततः राजनैतिक भविष्य के संदर्भ में सार्थक प्रश्न यह है कि वैश्विक व्यवस्था में भारत की भूमिका क्या है?

मुचकुंद दुबे संयुक्त राष्ट्र को केंद्र में रखकर इस प्रश्न से रुबरु होते हैं जिसकी शांतिपूर्ण विश्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका है जहां सभी राष्ट्र के सभी नागरिक समृद्ध हों. वह ध्यान दिलाते हैं कि 1960 और 1970 का समय अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का सुनहरा युग था, हालांकि 1990 आते-आते मुख्य शक्तियां संयुक्त राष्ट्र की अंतरराष्ट्रीय समुदाय को आवश्यक सामान उपलब्ध कराने की क्षमता को धराशायी करके इस सहयोग को कमजोर करने में सफल रहीं. दुबे भविष्य की विश्व व्यवस्था के लिए एक नए, ऊर्जावान और बहुपक्षीय लोकतांत्रिक प्रशासन के पक्ष में तर्क रखते हैं. इसके केंद्र में संयुक्त राष्ट्र के महत्वपूर्ण कार्यों को पुनः स्थापित करना और उनमें सुधार कर उसकी क्षमता को बढ़ाना है. सभी राष्ट्रों और नागरिक सहकारी संगठनों की प्रभावशाली सहभागिता से यह लोगों की आवाज़ के रुप में आगे आना चाहिए. इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की निर्णय प्रणाली का लोकतंत्रीकरण आवश्यक है, साथ ही विश्व व्यापार संघ को संयुक्त राष्ट्र के ढांचे में लाना भी आवश्यक है, जिससे अंतर्राष्ट्रीय निगमों की जवाबदेही तय हो, वैश्विक निगरानी रखी जा सके और अंतर्राष्ट्रीय वित्त बाजार का नियमन सम्भव हो. वैश्विक व्यवस्था के पुनर्निर्माण में नए ऊर्जापूर्ण और बहुपक्षीय लोकतंत्र के लिए वैश्विक गठबंधन की पहल में भारत की भूमिका आवश्यक है, जिसमें चीन (और अन्य BRIC राष्ट्र भी) जैसे राष्ट्रों को भी जोड़ने का प्रयास करना होगा.

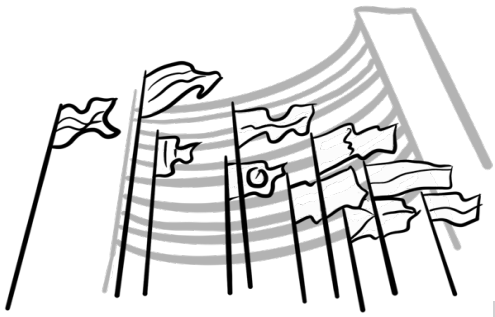

आर्थिक भविष्य

हालांकि 'अर्थव्यवस्था' शब्द का संदर्भ ग्रीक भाषा में ओइकस (हमारा घर/परिवार) के प्रबंधन से है, यहाँ अधिकांशतः सामग्री और वित्त प्रबंधन के संदर्भ में हमने इसका प्रयोग किया है. भारतीय अर्थव्यवस्था, जिसमें मुख्य उत्पादन (खेती, ग्राम्यवाद, मछली पालन, जंगल) और सहायक उत्पादन (कपड़ा, शिल्प, धातु और अन्य बहुत कुछ) का इतिहास रहा है, उसके उत्पादन का चरित्र, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, मुख्यतः राज्य आधारित (समाजवाद, कम से कम कुछ सीमा तक) से बदल कर बड़ी संख्या में निगम या राजकीय निगम (अधिकाँश पूंजीवाद) आधारित हो गया है. पारम्परिक मापदंडों से यह विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में से एक है. परन्तु यह भी स्पष्ट है कि आर्थिक विकास का यह नमूना जो भारत ने अपनाया है वह सर्वजन की भलाई और समृद्धि को सुनिश्चित नहीं कर सका है और उपलब्ध प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों को देखें तो यह स्वयं स्फूर्त भी नहीं दिखता. तकरीबन यही हाल वैश्विक अर्थव्यवस्था का है जिसको विशेषतः वर्ष 1991 के बाद अपनाया गया (श्रीवास्तव और कोठारी, 2012). क्या हम अर्थव्यवस्था के ऐसे किसी भविष्य की कल्पना कर सकते हैं जिसमें कि बहुत बड़े स्तर पर की असमानता, लोगों के बीच स्थित विभाजन, हाशिए पर धकेल दिए गए कई सौ-लाखों लोग और हो रहे पारिस्थितिकीय क्षय को संभाला जा सके, साथ ही सब के कल्याण का एक टिकाऊ सूत्र निकाला जा सके?

इस विषय के अंतर्गत हमारे पास ग्रामवाद, कृषि और आहार, जैवसंहति आधारित कृषि उद्योगों के विकास, शिल्प, उद्योग, ऊर्जा, स्थानीयकरण, परिवहन और बाजार पर निबन्ध हैं. इनकी मदद से भविष्य के एक ऐसे महत्वपूर्ण पहलू को खोला जा सकता है जो आर्थिक और पारिस्थितिकीय दृष्टि से जीवंत और लोकतांत्रिक हो.

ग्रामवाद, जीने और जीवनयापन के तरीकों की दृष्टि से,
स्थापित कृषि से पुराना है.

इल्स-कोहलर-रोल्सफ़न और **हनवंत सिंह राठौर**, जो कि स्वयं एक ग्रामवासी थे, ने भारत की आर्थिक और परिस्थितिकीय व्यवस्था में इसके योगदान को लेकर बहुत कुछ लिखा है, हालांकि अधिकांश बेध्यानी में गुम हो गया है. गहरी अंतर्दृष्टि से उपजी यह वो खाद्य उत्पादन व्यवस्था है जो पशु पालन से जुड़े समुदाय की कई पीढ़ियों के ज्ञान और अनुभव से विकसित हुई है. हरित अर्थव्यवस्था से स्वाभाविक जुड़ाव होने के बाद भी यह मजबूत व संगठित नहीं हैं और औद्योगिक उत्पाद ने इनको खत्म कर दिया है. लेखक इस पर बहुत जोर देकर कहते हैं कि एक ऐसा वातावरण हमें बनाना होगा जहां पर कि ग्राम जीवन के उत्पाद को प्रकृति संरक्षण से जोड़ कर देखने की दृष्टि बने, भूमि निर्धारण में पशुपालकों के लिए भूमि का आवंटन सुनिश्चित हो, पशु आधारित उत्पाद और पर्यावरण संरक्षण को जोड़कर एक आकर्षक जीवनयापन की रूपरेखा बने जो युवाओं की आजीविका के रूप में विकसित हो. उनके अनुसार पशु आधारित उत्पाद का भविष्य पशुपालन की विकेंद्रीय व्यवस्था व स्थानीय बायोमास का अधिकतम उपयोग है. वो इसमें आगे की बात भी करते हैं- जैसे देसी नस्ल के पशु उत्पादन का प्रलेखन, वैकल्पिक पशुधन उत्पादन के लिए योजना और मूल्य कड़ी का विकास - ग्रामवाद को संरक्षण व उत्साहित करने के उपाय.

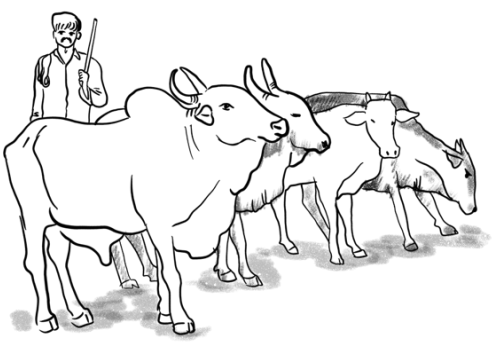

कृषि (खेती), हमारे उत्पाद के प्रमुख घटक, का हमारे पोषण की सुरक्षा, आजीविका और पारिस्थितिकीय से गहरा सम्बन्ध है, हालांकि कृषि हरित क्रांति के पश्चात कृषि के बाजारीकरण और बाहरी तत्वों की खेती में अत्यधिक मिलावट के चलते, यह सम्बंध अब निरन्तर खतरे में है. **भारत मनसाता, कविता कुरुगंती, विजय जरदारी** और **वसंत फुताने** (इन में से तीन अंशकालिक या पूर्णकालिक किसान हैं) ने प्राचीन वनों में भोजन और कृषि की जड़ें और वन निर्भर समुदायों में पोषण सुरक्षा के इतिहास को संक्षेप में प्रस्तुत किया है. सरकारी नीति निर्धारण में कृषि के पारंपरिक ज्ञान व कौशल की, खासकर महिलाओं और आदिवासियों की, पूरी तरह उपेक्षा की गई है. यहां लेखकों ने ऐसे भविष्य के पक्ष में तर्क रखा है,, जिसमें अन्न स्वराज और सबकी भोजन सुरक्षा की सुनिश्चितता , किसानों के लिए सम्मानजनक आजीविका, टिकाऊ पारिस्थितिकीय और सभी का विकास हो . इसके मध्य में है जैव विविधता पूर्ण, पारिस्थितिकीय किसानी-पारिस्थिकीय कृषि की राह, छोटे किसानों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के सावधानी से प्रबंधन पर आधारित - इसके कई उदाहरण दिए गए. इस राह पर चलने से जलवायु परिवर्तन और मौसम के उतार-चढ़ाव और अतिरेक के खतरों में कमी आएगी और भोजन संप्रभुता में स्वावलंबन आएगा.

शिल्प कौशल ने हमारी अर्थव्यवस्था के प्राथमिक घटक से आगे निकलकर दूसरे घटकों का रास्ता दिखाया. इन दूसरे घटकों पर यहां दो निबंध दिए गए हैं - शिल्प और उद्योग. **उज्ज्म्मा** के अनुसार पूरे औद्योगिकरण युग में जहां उच्च ऊर्जा आधारित औद्योगिक उत्पाद थे, उन के सामने भारत के शिल्प उद्योग ने अपनी सार्थकता को बचा कर रखा. इसके कारण जो उच्च ऊर्जा आधारित औद्योगिकरण की पूरी धारा थी, जिसमें सिर्फ कुछ लोगों के ही हित थे, उसमें भारत का कम ऊर्जा आधारित बहुहिताय शिल्प एक विकल्प के रुप में आया, जहां उत्पादन में भी लोकतंत्र है, जो कि समता आधारित समाज की बुनियादी आवश्यकता है. शिल्प उद्योग में बहुत कम धन की आवश्यकता होती है और ऊर्जा भी बहुत कम लगती है इसके कारण उत्पादन के व्यापक स्वामित्व की संभावना है. पर्यावरण में बदलाव के जो खतरे दिखाई दे रहे हैं उसमें भारत के यह उद्योग जिनमें बहुत कम ऊर्जा की खपत होती है, सार्थक हैं. भारत के पारंपरिक शिल्प उद्योग, जैसे अन्य सभ्यताओं की

पुरातन शिल्प परंपरा, में कुछ खास सांस्कृतिक पहलू भी होते हैं, जिससे एक भिन्न पहचान भी मिलती है, साथ ही, आज के समय का जो बाजार है उसमें भी अलग स्थान मिलता है. इन सब पक्षों को पहचानने से यह समझ बनती है कि कच्चा माल, संस्थागत वित्तीय सहायता और उत्पाद की पहचान के न्यायिक अधिकार पर, उत्पादनकर्ता के लोकतांत्रिक अधिकार को, राज्य को सुनिश्चित करने की जरूरत है.

उद्योग और औद्योगिक मजदूर के ऊपर अपने निबंध की शुरुआत करते समय **दुनू रॉय** दुनिया में औद्योगिकरण के संक्षिप्त इतिहास की बात करते हैं और साथ ही भारत में उसके समानांतर जो उसका स्वरूप है, उसकी बात करते हैं. भारतीय उद्योग के संगठित और औपचारिक क्षेत्र में श्रम कानून एक सीमा तक ही काम करते हैं. इसके कई कारण हैं. संगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों संगठित होते हैं, वहीं अनौपचारिक क्षेत्र के कामगार चूँकि स्व-रोजगार में हैं और क्योंकि वहां कोई नियोक्ता नहीं है, वे हर प्रकार की वित्तीय मदद, परिवहन, बाजार, कौशल और जीविका चलाने के लिए जगह की कमी से जूझते हैं.

इसके बाद आता है गैर कानूनी क्षेत्र, जहां काम करने वाले लोगों के पास किसी भी तरीके का कोई भी न्यायायिक संरक्षण नहीं है क्योंकि उनको गैरकानूनी ही माना जाता है. इन सभी क्षेत्र में काम करने वाले कामगार अपना विरोध, विनिवेश और पुनर्गठन, निजीकरण और विदेशी निवेश, संगठित अधिकारों और उचित मजदूरी से इंकार, ठेकेदारी प्रथा और श्रम कानून सुधार, तोड़फोड़ और बेदखली, के खिलाफ दर्ज करा रहे हैं. राज्य और निगम के विभाजन और एकत्रीकरण की जो नीति है, उसके विरोध को इसने हवा दी है. हालांकि रॉय के अनुसार पूंजीगत समाज में औद्योगिकरण का भविष्य, दो मुख्य निर्धारक, स्पर्धा और लाभ में क्रांतिकारी परिवर्तन, पर निर्भर करता है. इस निबंध में ऐसे कुछ आंदोलनों का उदाहरण दिया गया है जहां इन निर्धारकों को चुनौती दी गई है पर जो असल दिक्कत है वह एक ऐसी राजनीति या ऐसे सिद्धांतों के अभाव की है जो कि कामगारों के प्रयासों से आगे की बात करे और शोषण, समानता और न्याय के ढांचे में बदलाव को पहचाने और चुनौती दे.

आर्थिक सुधार जैसे उदारीकरण, निजी करण और वैश्वीकरण के आसपास की पूरी चर्चा अब आलोचना से आगे बढ़कर स्पष्टता से सामने आने लगी है साथ ही साथ वैकल्पिक विचार और दृष्टिकोण का आधार पर बनने लगा है. ऐसे कई निबंध हैं जो इन महत्वपूर्ण मुद्दों के संबंध में हैं, जो क्षेत्रीय और स्थानीय अर्थव्यवस्था की संभावनाएं और स्थानीय लेन देन के लिए बाजार की परिकल्पना की बात करते हैं.

असीम श्रीवास्तव और **एलांगो रंगस्वामी** के अनुसार निगमीय बाजार की अर्थव्यवस्था, आर्थिक तरक्की को विकास मानती है जो बहुत बड़े पारिस्थितिकीय नुकसान और मानव समुदाय के ह्रास का कारण है. वैश्वीकरण ने कुछ राष्ट्र या कुछ कंपनियों के हाथों में शक्ति के केंद्रीयकरण में बड़ी भूमिका अदा की है जो कि व्यवसायिक अर्थव्यवस्था के ताने-बाने को बहुत मजबूती से नियमित करते हैं. निबंध, अर्थव्यवस्था के स्थानीयकरण और क्षेत्रीयकरण के पक्ष में तर्क देता है जो कि पारिस्थितिक दृष्टि से स्थिर और नवीकरणीय हो. इसका अर्थ होगा 20-30 गाँवों का समूह जिसके केंद्र के रूप में एक नगर हो, जो सम्मिलित रूप से आत्मनिर्भर हो और जहां सीखने-सिखाने के महत्वपूर्ण संस्थान के रूप में एक पंचायत अकादमी हो. ऐसी अर्थव्यवस्था ' अर्थव्यवस्था विकास संघ ' होगी. निबंध में उन रणनीतियों को सूचीबद्ध किया है जिनसे कि एक नवीन, विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे को प्राप्त किया जा सके, जो औद्योगिक और वैश्विक अर्थव्यवस्था को चुनौती दे सके. तमिलनाडु के कुटुंबकम गांव का उदाहरण दिया गया है जिसने कि ग्राम स्वराज की परिकल्पना में अपने आप को ढाला जब इलांगो, जो कि इस निबंध के लेखकों में से एक हैं, वहां पर सरपंच थे. अब गांव में पक्के मकानों के साथ-साथ, अच्छी पक्की सड़कें हैं, नालियों-मोरियों की कुशल व्यवस्था है, सुरक्षित पीने का पानी है, उत्पादन आधारित जीविका है और कुशल ऊर्जा संचालित बिजली से सड़कें रौशन हैं. यह गांव विकेंद्रित, पारिस्थितिक संवेदनशीलता और नवीकरणीय अर्थव्यवस्था का एक बहुत अच्छा उदाहरण है.

इससे संबंधित **के.जे.जॉय** का निबंध है जिसमें वह बताते हैं कि कैसे जैव संहति (बायोमास) आधारित योजना ग्रामीण अर्थव्यवस्था और पारिस्थितिकीय में जान फूँक सकती है कि एक टिकाऊ और न्याय संगत विकास की राह खुल जाए. यदि 5 लोगों का एक सामान्य परिवार है जो कि 18 टन जैव-संहति (बायोमास) या तो खुद से उत्पाद कर रहा है या उसकी पहुंच में है तो वह अपनी सभी जरूरतें, जैसे भोजन,

चारा और इंधन, की पूर्ति तो कर ही सकता है, साथ ही ग्रामीण क्षेत्र में विकेंद्रित कुशल ऊर्जा आधारित कृषि-उद्योग के विकास के लिए भी पर्याप्त पूर्ति कर सकता है. निबंध में विस्तार से बताया गया है कि कैसे पारंपरिक तकनीक की अपेक्षा उपलब्ध तकनीक की मदद से, संग्रहित जैव-संहति का, बुनियादी संरचना के क्षेत्र, जैसे पानी, भवन, सड़कें इत्यादि में उपयोग किया जा सकता है, जिन से लागत और ऊर्जा की बचत हो और रोजगार और सम्मिलित लाभ के अवसर बनें. यदि नवीकरणीय ऊर्जा के स्त्रोत को भी जोड़ दिया जाए तो जैव संहति को संशोधित करने की प्रक्रिया के लिए भी थोड़ी बहुत ऊर्जा उपलब्ध हो सकेगी. इस सब के लिए, लेखक ने एकीकृत-उत्पादन-सह-ऊर्जा जनन इकाई (इंटीग्रेटेड प्रोडक्शन कम एनर्जी जेनरेशन यूनिट IPEUs) के विचार को आगे रखा है.

उपरोक्त संभावनाओं को आगे ले जाते हुए **एम पी परमेश्वरण** सन 2047 के केरल में एक जीवंत आत्मनिर्भर गाँव की दूरगामी परिकल्पना करते हैं. जन आंदोलन और गांधी, जयप्रकाश नारायण और मार्क्स की सम्मिलित प्रेरणा से गांव का लक्ष्य होगा, जन्म दर और मृत्यु दर में संतुलन और स्थिर जनसंख्या के लक्ष्य प्राप्त करने के उपरान्त रोग से मुक्त लम्बी उम्र, काम के लिए निर्भरता से मुक्ति और समता, विविधता और सहनशीलता जैसे मूल्यों की ग्रामीण समाज में बढ़ती समरसता. केरल में पहले से विकेंद्रीकृत योजना प्रक्रिया का जो प्रयोग हो रहा है उसी में और बढ़ोतरी करने से यह लक्ष्य संभव है जहां लोग अपने उम्मीदवार स्वयं चुनें ना कि राजनीतिक दल उम्मीदवारों का चयन करें. इस प्रक्रिया को समर्पित शिक्षकों द्वारा वैकल्पिक शिक्षा पर अतिरिक्त ज़ोर देने, बच्चों और बुजुर्गों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था, चक्रीय कृषि व्यवस्था से सुनिश्चित भोजन सुरक्षा, बहुत से उत्पादों का स्थानीय उत्पादन (पड़ोस की पंचायतों से दूसरे उत्पादों की अदला-बदली की व्यवस्था), और जिनके पास उचित घर की व्यवस्था नहीं है उन्हें खाली पड़े मकानों के पुनः आवंटन, पानी के विकेन्द्रीयकरण और ऊर्जा में स्वावलंबन, से समर्थन मिला. ग्रामीण आधार के साथ कुछ शहरी सुविधाओं को जोड़ने से क्षेत्र ग्राम्य-शहर (रुर्बन) में परिवर्तित हो गए. इस प्रक्रिया में आने वाली कई रुकावटें को मजबूत लोकतांत्रिक संवाद और पीढ़ियों के समृद्ध ज्ञान से दूर किया गया.

रजनी बक्शी, भारतीय बाजार संस्कृति की विशेषताओं की जड़ें 2500 साल के इतिहास में तलाशती हैं. उनके अनुसार उन्नति और तकनीकी विकास के सामयिक अर्थ ने उत्पादन के तरीके और उसके संबंध दोनों को बदल दिया है. असीमित संग्रहण की बाज़ार संस्कृति को बदलकर एक ऐसी संस्कृति की संभावनाओं को तलाशने की आवश्यकता है जो कि पर्याप्त और आम भलाई पर आधारित हो. निबंध में ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था की कल्पना की गई है, जो अपनी जरूरतों के लिए स्व-पूरक हो, साथ ही पैसे रहित लेनदेन की संभावनाओं को तलाशने में सक्षम हो. ऐसी अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा और पुनरुद्धार के लिए समुदाय आधारित व्यवस्था होगी. व्यक्तिगत और सार्वजनिक संपत्ति के संग्रहण की प्रवृत्ति के आचार विचार में बदलाव ही इस बाजार का शुरुआती कदम होगा.

भारत के शहर, आम लोगों के रहने की खराब स्थिति, विशेषकर गरीब तबके की, जैसे कई संकटों से गुजर रहे हैं. गांव के साथ शहरों के पारजैविक संबंधों के चलते, गाँव, शहरों के कई और संकटों का भी कारण बने हैं. इस स्थिति को कैसे बदला जाए?

राकेश कपूर, शहरी भारत के अगले 3 दशक या और आगे की चुनौतियों को देखते हैं जिसमें खराब भूमि-रूप व्यवस्था (इंफ्रास्ट्रक्चर), अपर्याप्त पानी और बिजली आपूर्ति, मलिन बस्तियां, कचरा प्रबंधन और खराब सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था है. इसका मूल कारण है खराब प्रशासन, धन की कमी, नवाचार और लोक सुलभ योजनाओं का अभाव. वह तर्क रखते हैं कि शहरी या ग्रामीण भारतीय के गुणवत्तापूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है कि वर्तमान दृष्टिकोण, मानसिकता और प्रथा को बुनियादी तौर पर ही बदल दिया जाए. कपूर 2047 के शहरी और ग्रामीण भारत के लिए पूरी तरह एक मौलिक दृष्टिकोण का सुझाव देते हैं - दूर-दूर फैले शहर जिसके छोटे-छोटे कस्बे तरक्की और कौशल के गढ़ हों , वित्त के नवाचर तंत्र, पानी और भूमि के उपयोग के लिए कई स्तर पर लोक

अधिकारी, प्रशासन के विकेन्द्रीयकरण के लिए आवश्यक सशक्त शहरी स्थानीय निकाय या शहरी स्थानीय प्रशासन, शहरी क्षेत्र में 'पुनर्योजी' (रिजेनेरटिव) और 'कुशल' शहरों के निर्माण और न्यून कार्बन उत्सर्जन हेतु संसाधन के संपोषणीय (सस्टेनेबल) उपयोग और समाधान के नवाचार. इससे यह प्रतीत होता है कि भविष्य अधिक से अधिक नवीकरणीय ऊर्जा के स्रोतों के इस्तेमाल पर आधारित होगा, कम से कम कचरा उत्सर्जन होगा, कम से कम पारिस्थितिकीय ह्रास होगा, सभी नागरिकों के लिए अच्छे घरों की व्यवस्था होगी और आपदा में कमी आएगी. कपूर इशारा करते हैं कि आम भारतीयों, उसके राजनैतिक नेताओं की भी, सबसे बड़ी चुनौती है, शहर और ग्रामीण भारत को जोड़कर एक नए भविष्य की परिकल्पना करना और फिर हमारी जनसंख्या के सभी घटकों को साथ लेकर उस परिकल्पना को साकार करना.

शहरी भारत के विभिन्न अंगों में से परिवहन एक महत्वपूर्ण अंग है. हालांकि, हर नगर में कई सारी योजनाएं काम करती हैं, फ्लाईओवर का निर्माण, सड़कों का निर्माण-चौड़ीकरण और बुनियादी ढांचा योजना, इस के बाद भी हर बीते साल के साथ ट्रैफिक की समस्या बढ़ती ही जा रही है. **सुजीत पटवर्धन** सामयिक परिदृश्य को समझने का प्रयास करते हैं और शहरी भारत में परिवहन के भविष्य की विस्तार से परिकल्पना करते हैं. उनके अनुसार भारत में परिवहन योजना में चार पहिया वाहन को प्रमुखता दी गई है जिसके कारण साइकिल, ठेला और आम जन-परिवहन को किनारे पर कर दिया गया है. इसके फ़लस्वरुप प्रदूषण के स्तर में बहुत बढ़ोतरी हुई है. निबंध में आम जन केंद्रित संपोषणीय परिवहन का सुझाव दिया गया है जो कि शहर को खुशनुमा और सुरक्षित बनाए और जहां, पैदल चलकर, साइकिल चला कर और बिना मोटर गाड़ी पर निर्भरता के अपनी मंजिल तक, पहुंचा जा सके. इसके केंद्र में, पर्यावरण-केंद्रित शहर की योजना जो आवास विकास के सघन स्वरुप, मोटर गाड़ी परिवहन पर कम निर्भरता, भूमि के विभिन्न उपयोग, शहर की प्राकृतिक धरोहरों की सुरक्षा व कुशल कचरा प्रबंधन, को प्रोत्साहन देना है.

संपोषणीय और न्याय सम्मत भविष्य का गहरा संबंध, अन्य चीजों के साथ उस तकनीक से भी है जो समाज चुनता है. **दिनेश अब्रॉल** राजनीतिक अर्थव्यवस्था के व्यापक परिदृश्य में तकनीक के प्रश्न को समझने का प्रयास करते हैं. सामयिक तकनीक व्यवस्था प्रमुख नव उदारवादी ज्ञान के उद्भव से बहुत हद तक निर्देशित है जिसकी सीधे निष्कर्ष पर पहुंचने की प्रकृति है और जिसके फ़लस्वरूप असमानता बढ़ती है. अनुसंधान और विकास संस्थान केंद्रीयकृत हैं और इन्होने विज्ञान और तकनीक के वैकल्पिक रूप के लिए अपने दरवाजे बंद कर रखे हैं. उदाहरण के लिए मोनोकल्चर और रसायनिक खेती के वर्तमान मॉडल के कारण कृषि-पारिस्थितिकीय और मैदानों को बुरी तरह अवक्रमित कर दिया गया है. आज भारत को उत्पादन और खपत की पूंजीवादी प्रणाली पर बढ़ती निर्भरता का सामना करना पड़ रहा है. यह निबंध, कृषि और ग्रामीण औद्योगिकरण कार्यक्रम, संपोषणीय परिवहन, ऊर्जा और आवासीय क्षेत्र या प्राकृतिक आवास के विकास में विकल्प का अन्वेषण करता है. इसमें स्थापित मुख्य ढांचे और उपभोग के सांस्कृतिक पहलुओं में बदलाव की प्रगति की प्रक्रिया को मुख्यता से आगे रखने वाली योजनाओं की बात है और ऐसे नायकों की मदद का प्रस्ताव है जो जनहित लोकतंत्र और समाजवादी लोकतंत्र के पक्षधर हैं. ग्रामीण और कामकाजी वर्ग की मूलभूत आवश्यकताएं इनकी प्राथमिकता हैं. यह निबंध तकनीकी विकल्प का तर्क रखता है जो कि उपरोक्त में मुख्य भूमिका के रूप में काम करे और जिस से समाज में तकनीकी व्यवस्था के तत्वरूप बदलाव को मदद मिले, ऐसा बदलाव जिसमें नवाचार और प्रगति के वैकल्पिक सामाजिक वाहक की मदद से और सामाजिक समता की प्रेरणा से पारिस्थितिकीय बदलाव की राह बने.

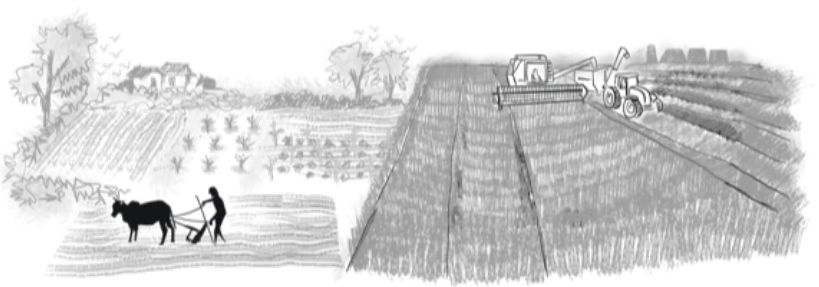

सामाजिक-सांस्कृतिक भविष्य

आधुनिकता के प्रभाव में भारत की प्राचीन सभ्यता के लक्षण बहुत तेजी से बदल रहे हैं, परंतु आज भी यह समाज के मूल में हैं और सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा हैं. जाति, वर्ग, लिंग, उम्र, वर्ण, प्रतिभा, भौगोलिक, जनसांख्यिकी, लैंगिक तथा परम्परा व आधुनिकता के अंतर-संबंधों में विरोध है पर ये परस्पर पूरक भी हैं. यहां मजबूत ऐक्यभाव और समरसता दिखती है तो गहरे में अन्याय और शोषण भी दिखता है. उलझन और जटिलता बढ़ रही है ऐसा नज़र आता है, तब ऐसे किस भविष्य की कल्पना की जा सकती है जो संघर्ष को कम करे और परस्पर पूरकता को बढ़ाये, जहां विविधता कमज़ोरी नहीं, ताकत का कारण बने?

सामाजिक-सांस्कृतिक भविष्य के खंड में भाषा, कला, मीडिया, ज्ञान, स्वास्थ्य, लैंगिक, दलित और जाति, लिंग, आदिवासी और अल्पसंख्यक के ऊपर निबंध हैं. अधिकांश में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक विषय को भी सम्मिलित किया है.

संस्कृति का एक प्रमुख हिस्सा भाषा है. भारत कम से कम 780 जीवित भाषाओं की भूमि है - यानि कि पूरे विश्व की हर आठवीं भाषा. **गणेश देवी** के अनुसार भाषा सिर्फ बातचीत का एक ज़रिया नहीं बल्कि विश्व की झांकी की तरह है और आर्थिक व्यवहारिकता के दबाव के साथ इनकी मान्यता व स्वीकार्यता के अभाव में इनमें से कई मूल भाषाएं अब लुप्त हो चुकी हैं. संचार में तकनीकी क्रांति के कारण आधुनिक दुनिया के संपर्क करने के तरीकों में पूरी तरह बदलाव आ गया है और कई संजाति और सांस्कृतिक समूह के खत्म होने का भय बना हुआ है. निबंध में ऐसी भाषाओं को सहारा देने पर जोर दिया गया है जो कि मुख्यधारा में उतनी प्रचलित नहीं है या जो शहरों तक नहीं पहुंच पाई हैं. इसका अर्थ है कि ऐसे प्रयासों का समर्थन करना जो बहुत सीमा तक भाषाओं को बचाते हैं, जैसे कि ई - पुस्तकालय, साहित्यिक समूह और भाषाओं को प्रोत्साहन देने वाली पत्रिका या भाषाई पत्रिका. भारत अपनी महान विविध भाषाओं को बचाने की चुनौती का तभी सामना कर पाएगा जब वह अपनी बहु-भाषीय, बहु-सांस्कृतिक पहचान को स्वीकार करेगा.

सीखने और पढ़ने के अवसर हमारी संस्कृति के मूल में हैं (इसके अलावा भी बहुत कुछ जो इस पुस्तक में है). **तुलतुल विश्वास** और **राजेश खिंदरी** इशारा करते हैं कि विचार, जीवन के अनुभव, संस्कृति, ज्ञान, भाषा, इत्यादि के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है. ज्ञान देने के संस्थान के रूप में, विद्यालय, इस हस्तांतरण का प्रमुख केंद्र हैं. हालांकि विद्यालय व्यवस्था भी समाज में पहले से प्रचलित असमानता और पूर्वाग्रह को स्थापित करने में जिम्मेदार है. भारत में मुख्य धारा से दूर जा रहे सरकारी विद्यालयों में ऐसे छात्रों की भरमार है जो समाज के उस तबके से हैं जो हाशिए पर है.

दूसरी तरफ गैर सरकारी विद्यालय उच्च वर्गीय भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है और इन विद्यालय के छात्रों का समाज के हाशिए पर जो वर्ग है उस से किसी तरीके का कोई मेल मिलाप नहीं है. यह वर्गीकरण और आगे जाकर जाति, धर्म और लिंग की असमानता की जड़, जो भारतीय समाज में बहुत गहरे तक स्थापित है, को मजबूत करता है. शिक्षा व्यवसाय के रूप में तब्दील हो रही है जहां बच्चे के रचनात्मक और सर्वांगीण विकास के लिए कोई स्थान नहीं है. अविजीत पाठक के विचारों से प्रेरणा लेकर इस निबंध में शिक्षा के ऐसे भविष्य की कल्पना को रखा गया है जिस से नए अवसर खुलें साथ ही संतुलित, न्यायोचित, उत्तरदायी छात्र और शिक्षकों के रूप में विकास की संभावना बने. ऐसे कुछ प्रयासों के उदाहरणों से, जहां कि पारंपरिक विद्यालय व्यवस्था से इतर उन्मुक्त आपसी संवाद और सब के समावेश से सीखने का वातावरण है, के प्रयोगों से पता चला है कि भविष्य की यह कल्पना, हालाँकि चुनौतीपूर्ण है, पर संभव है.

सुधा गोपालकृष्णन भारत में कला की विरासत और उसके सामयिक प्रतिनिधित्व को समझने का प्रयास करती हैं (प्रदर्शन कला तक सीमित). भारत सदा से कई पारंपरिक कला शैलियों की भूमि रहा है जैसे चित्रकला, नाटक, नृत्य और संगीत ; यह कला केंद्र दमनकारी शासन के विरोध और व्यंग के स्थान रहे हैं. हालाँकि प्रदर्शन कला के बाजार आधारित दृष्टिकोण ने कला शैली की परम्परा का ह्रास किया है और इनको मात्र आर्थिक आवश्यकता तक सीमित कर दिया है. निबंध में तर्क दिया है कि कला का भविष्य उस संतुलन से बनेगा जो संदर्भ-विशेष की प्रासंगिकता को विस्तृत संसार के अर्थ में प्रस्तुत कर सके. इस तरह के संतुलन को बनाने के लिए ऐसे सार्वजनिक स्थान, सामूहिक प्रयास और संस्थाओं को बनाना होगा जो कि स्थानीय संस्कृति को तलाशने और संरक्षित करने के लिए काम करें. कला की स्थापित और पारंपरिक सीमाओं को लांघना होगा जिससे कि सांस्कृतिक बहाव बना रहे. पद्धतिबद्ध तरीके से इसे संग्रहित और संरक्षित किया जा सकता है. इसकी नवकरणीय क्षमता या कुछ ऐसा जिससे इसका मूल्य या महत्व बने, इस प्रकार पहचान करने से कला में नई संभावनाएं खुलेंगी.

परंजॉय गुहा ठाकुर्ता सार्वजनिक विषयों को सामने लाने के लिए वैकल्पिक मीडिया कैसे काम करे, साथ ही आबादी के बड़े भाग और उन विषयों के प्रति उत्तरदायी भी हो जो अधिकतर लाभ आधारित कॉर्पोरेट मीडिया के द्वारा दबा दिए गए हैं. भारतीय मीडिया में अल्पाधिकार के आ जाने से विविधता और अनेकता का नुकसान हुआ है. वह अनुत्तरदाई हुई है और उसने कृषि, दलित, छोटे किसान और पर्यावरण जैसे विषयों की चर्चा को लेना कम कर दिया है. विश्व में सब ओर पहुंच सीमित होने के बावजूद मीडिया के अंक रुपण (डिजिटाइजेशन) होने से सूचनाओं का बदला हुआ रुप देखने को मिलता है और बेहतर लोकतांत्रिक भविष्य की उम्मीद जागती है. आदर्श स्थिति वह होगी जब कि डिजिटल संसार में सूचनाओं को एकत्र करने और फैलाने का नियंत्रण कुछ ताकतवर के पास ना हो ; बल्कि देश के सामान्य, चिंताशील नागरिक सूचनाओं को एकत्र करें और प्रसारित करें जिसे कि एक स्वतंत्र समिति नियंत्रित करे, जो सिर्फ सही पत्रकारिता को आगे आने दे. यहां

निबंध, विभिन्न पृष्ठभूमि से आने वाले लोग, जिनकी रुचि एक है, के साथ आने की आवश्यकता की बात करता है. मीडिया में काम करने वाले लोगों को, समाज के झूठ का पर्दाफाश करने वाले (व्हिसलब्लोअर), प्रबुद्ध समाज के प्रतिनिधि और राजनीतिक एक्टिविस्ट, के साथ मिलकर काम करना चाहिए जिससे कि अप्रिय सच सामने आ सके और अधिक पारदर्शिता से काम हो.

राजेश्वरी रैना के अनुसार नव उदारवादी युग में ज्ञान का महत्व सिर्फ आर्थिक तरक्की तक सीमित हो गया है. अच्छे केंद्रीय विज्ञान और तकनीकी संस्थान सिर्फ राज्य और निजी निगम क्षेत्रों के लिए काम करते हैं. नीति निर्माण, उच्च शिक्षा, विज्ञान अनुसंधान, वस्तुओं का उत्पादन, समस्त ज्ञान के उपक्रम, ज्ञान को मुद्रा रूप में ही स्वीकारते हैं. यहां निबंध, भारत में ज्ञान के ऐसे भविष्य की कल्पना करता है जिसका आधार लोकतांत्रिक मूल्य और समुदाय आधारित ज्ञान व्यवस्था है. ऐसी व्यवस्था विविध प्राकृतिक, सामाजिक, भौतिक और आर्थिक अस्तियों के अंतर-संबंधों के बीच जोड़ का और विकेंद्रीकरण का काम करेगा. इसके केंद्र में ऐसी संस्थानिक व्यवस्था का निर्माण करना है जो विविध ज्ञान प्रणाली को जोड़े और समता और न्याय के सिद्धांत का पालन करे. वैज्ञानिक समुदाय को अपने को एकजुट कर विज्ञानं को सही दिशा में ले जाना होगा जो दिशा लोकतांत्रिक और विकेंद्रित हो और जिसमें समावेश और विवेचना की क्षमता हो. यह अब्रोल के तकनीकी पर निबंध से बहुत करीब से जुड़ा है.

अभय शुक्ला और **राखल गायतोंडे** कहते हैं कि भारत की स्वास्थ्य व्यवस्था के विकास का जो इतिहास है उस में देखा गया है कि स्वास्थ्य-नीति के जो दस्तावेज होते हैं और असल में इन नीतियों के क्रियान्वयन के लिए जो संसाधन आवंटित किए जाते हैं, उन दोनों के बीच में हमेशा से फासला या बड़ा अंतर दिखाई देता है. भारत की स्वास्थ्य नीति, जैसे राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य योजना (NRHM) सहभागिता योजना और समुदाय आधारित नियमन के आदर्श पर आधारित है, परंतु इसके क्रियान्वयन में नव-उदारवादी ढांचे के अंतर्गत स्वास्थ्य के क्षेत्र को उत्पाद की तरह

समझ कर तर्क रखा जाता है. यहां निबंध, स्वास्थ्य व्यवस्था के उस दृष्टिकोण की बात करता है जहां जन स्वास्थ्य व्यवस्था के जनतांत्रिकरण और निजी स्वास्थ्य केंद्रों के सामाजिकरण की दिशा में काम हो. इस दृष्टिकोण के केंद्र में सार्वभौमिक स्वास्थ्य सुविधा (UHC) योजना है जिसके अंतर्गत अधिक से अधिक निजी और सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधा देने वाले संस्थान एक एकीकृत स्वास्थ्य योजना के अंतर्गत आ जाएंगे जिसमें स्वास्थ्य की विविध सुविधाएं उपलब्ध होंगी. इस योजना का वित्त और प्रबंधन आमजन द्वारा किया जाएगा. UHC को प्रावधान, प्रशासन और वित्त में कुछ मौलिक बदलाव करने की जरूरत होगी जैसे कि उत्तम स्वास्थ्य सुविधा पूरी जनसंख्या के लिए सुलभ उपलब्ध करनी होगी, साथ ही स्वास्थ्य सुविधा पेशेवरों के लिए उचित और सुरक्षित आय और पेशे में संतुष्टि की व्यवस्था करनी होगी.

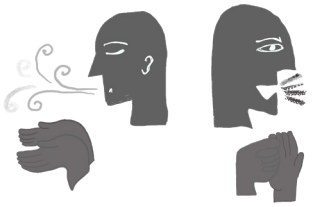

इस एक प्रश्न से दर्शन हमेशा से जूझता रहा है - वह क्या है जो हमारे जीवन को अर्थ पूर्ण बनाता है? **अरविंद नारायण** इस प्रश्न को भिन्न-भिन्न लैंगिकता के नजरिए से देखते हैं, यह समझते हुए कि पूर्व में पूंजीवाद के सिद्धांत में इसका उत्तर था - उपभोग, जिसके द्वारा यह दावा किया गया था कि यह विभिन्न (स्वयं की बनाई हुई) मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है. इस दावे में अंतर्निहित संतुष्टि के भाव को ब्रैट ईस्ट एली की फिल्म 'अमेरिकन साइको' में एक पात्र ने बहुत अच्छे से इंगित किया है, जिसमें वह कहता है कि उपभोग में जो भोगने का भाव है वह मानव होने की परिभाषा है पर यही भाव आपके भीतर के मानव की हत्या का ज़िम्मेदार भी है. इस निबंध को लिखने का आशय ये समझना है कि किसी भी सम-सामयिक काल में व्यक्ति जीवन का क्या अर्थ निकालता है. हालांकि इसके कई संभावित उत्तर हैं, पर इस निबंध का तर्क है कि मानव के अर्थपूर्ण अस्तित्व के लिए कम से कम दो धारणाएं महत्वपूर्ण हैं. पहली है किसी के लिए प्यार की धारणा और दूसरी है प्रेम का विस्तृत अर्थ जिसमें न्याय के लिए प्रेम या दूसरे की पीड़ा में सहानुभूति है. इन दो धारणाओं के जैविक विश्लेषण के लिए हम समाज सहमति की सीमा में रहे तीन विचित्र जीवन को समझें, यानी, स्वप्ना और सुचेता का और साथ ही चेल्सी मैनिंग का जीवन.

इतिहास में प्रमाण है कि दलित हमेशा से अमानवीय स्थिति में रहे हैं. **आनंद तेलतुमबड़े** के अनुसार दलित आंदोलन अपने वर्ग की आत्मा को समझने में नाकामयाब रहा, उदाहरण के लिए आरक्षण की नीति, इससे भी उच्च दलित वर्ग को ही फायदा पहुंचा. अधिकांश दलित की अभी तक प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, लोकतंत्रीय अधिकार और आधुनिक मूल्यों तक पहुंच नहीं है और जाति की पहचान अभी तक भारतीय जनमानस में प्रबल है. उनके दर्शन में प्रमुख है, जाति और संप्रदाय का आमजन की चेतना से उन्मूलन, जिससे कि मानवता ऐसे समाज के निर्माण की ओर अग्रसर हो जिसके अंतर् में स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व जैसे मूल्य हों. इस बदलाव के क्रियान्वयन के लिए वह 10 सूत्रों का भी सुझाव देते हैं जिसमें जाति को गैरकानूनी घोषित करना, राजनीतिक आरक्षण का उन्मूलन, राजनीति और धर्म में विभाजन, सिर्फ वर्तमान जनसंख्या तक आरक्षण लागू और उसमें सुधार, मूल में वित्तरात्मक न्याय और अनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था का अंगीकरण.

यदि हम जाति मुक्त भारत की कल्पना करते हैं तो क्या हम एक ऐसे भविष्य की कल्पना भी कर सकते हैं जो लिंग असमानता और पितृसत्तात्मक मुक्त हो? **मनीषा गुप्ते** कहती हैं, कि, हां, यह संभव है. वर्तमान दुनिया में पितृसत्ता की धारणा पुरुष को स्त्री की उत्पत्ति, प्रजनन और लैंगिकता पर अधिकार को वैधता प्रदान करती है. लेखक ऐसे भारत के दर्शन कराती हैं जहां लिंग भेद और पितृसत्ता नहीं है. लिंग भेद मुक्त समाज में लिंग के आधार पर शक्ति प्रदर्शित व्यवहार खंडित होंगे ; लोगों के पास प्रजनन और लैंगिक अधिकार होंगे ; स्त्रियों के लिए निजी और सार्वजनिक स्थान पर जाना सम्भव और सुरक्षित होगा और जाति, वर्ग और धर्म आधारित असमानता का उन्मूलन होगा. इस निबंध में परस्पर भिन्न दृष्टिकोण (वर्ग, जाति, समुदाय, पितृसत्ता के) और असमानता और अन्याय से लड़ने के लिए, गौण और आश्रित समझे गए जीवंत उदाहरणों से राजनीति की पुनः कल्पना की बात की गई है. इससे जाति, समुदाय, लिंग, वर्ग या लैंगिकता आधारित किसी भी तरह के भेद -भाव के उन्मूलन को बल मिलेगा और वह वर्ग जिसने कि भेदभाव का सामना और अनुभव किया है, उनके ज्ञान और समझ को महत्व देने से समाज में समानता, लोकतांत्रिक भागीदारी के मूल्य स्थापित होंगे.

भारत में दूसरा उपेक्षित समुदाय नृजातीय (धार्मिक को मिलाकर) अल्पसंख्यक का है. **इरफान इंजीनियर** औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में धार्मिक पहचान में वृद्धि और उसके परिणामस्वरूप सामुदायिक जीवन में होने वाले विलयन को देखते हैं. सांस्कृतिक उद्यमों द्वारा उत्पन्न सांप्रदायिक चेतना से पूर्वाग्रह मजबूत हुए और संघर्ष की स्थिति बनी. भारत के संविधान ने अल्पसंख्यकों को विशेष अधिकार दिए हैं, बिना उस गहनता को समझे, जिस अनुपात में वो अपने साथ होने वाले पक्षपात और उपेक्षा को भोगते हैं. दूसरी तरफ कट्टरपंथी इन कमियों से सांप्रदायिक उथल-पुथल को जन्म देते हैं. भिवंडी की मोहल्ला (पड़ोस) कमेटी के उदाहरण से, यह निबंध, स्थानीय सामाजिक तंत्र और विभिन्न समुदायों के समूह, जो सांप्रदायिक तनाव को संभाल सकें, का प्रस्ताव रखता है. लेखक के अनुसार वर्तमान राजनीतिक स्थिति में और ऐसे समाज में जहां पूंजीवादियों की विकास की परिभाषा हावी हो, अल्पसंख्यकों के लिए भविष्य की कल्पना करना बहुत मुश्किल है. बहरहाल सामाजिक न्याय, सबके समावेश और जीविका के संघर्ष के साथ-साथ, यह निबंध, संस्कृति के लोकतांत्रिकरण के लिए भी संघर्ष की परिकल्पना करता है. इसका अर्थ हुआ, समुदायों के अंतर्-बाह्य संघर्ष और उपेक्षित समुदाय की पहचान की पुनर्स्थापना, जिससे कि बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के बीच का अंतर अप्रासंगिक हो जाए.

भारत में आदिवासी सबसे अधिक उपेक्षित रहे हैं, कई तरीके से इन्हें सताया गया है, बेदखल किया गया है, उपेक्षित किया गया है, अपमानित किया गया है और कमतर समझा गया है. **ग्लैडसन डुंगडुंग** इस सच्चाई को अपने निबंध में रखते हुए ऐसे कई पहलुओं पर ध्यान आकर्षित करते हैं जिन में आदिवासियों के साथ कभी भी समान नागरिक की तरह व्यवहार नहीं किया गया, और भारत के अधिकाँश वृतांत में उनके इतिहास को शायद ही कोई स्थान मिला है. हाल की भूमंडलीय विकास प्रक्रिया के चलते आदिवासियों की अपनी ज़मीन से दूरी से उनकी मुश्किलें बढ़ गयी हैं. विस्मय नहीं कि अधिकांश के लिए यह अचरज का विषय है कि क्या कभी उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त भी हुई थी. यहां तक कि राज्य का आदिवासियों के प्रति कल्याणकारी

दृष्टिकोण भी अनुचित है और उनकी संस्कृति (उनकी भाषा भी), पारिस्थितिक संबंध, प्रशासनिक व्यवस्था, और स्वायत्तता, विरोधी है. इस सन्दर्भ में डुंगडुंग ऐसे वैकल्पिक भविष्य की तस्वीर रखते हैं जिसमें - क्षेत्रीय स्वायत्तता, अपने स्वयं के दृष्टिकोण और आकांक्षाओं पर आधारित कल्याणकारी या विकास योजनाओं का निर्माण, स्वास्थ्य और शिक्षा की समस्याओं पर तुरंत काम, खोयी हुए जमीन, क्षेत्र, और संसाधनों पर समुदायों का पुनः अधिकार, स्व-संकल्प, आत्मनिर्भर और स्वशासन का पूर्ण अधिकार, है. इसके द्वारा, डुंगडुंग कहते हैं कि शायद आदिवासी 'शेष भारतीय समाज को समता, न्याय और पारिस्थितिकीय पोषण के मूल्य की बेहतर समझ में मदद करेंगे.'

क्या कोई स्पष्ट (संसक्त) दृष्टिकोण उभर रहा है ?

विषयों के विस्तार और लेखकों की विविध पृष्ठभूमि के कारण यह अपेक्षा नहीं है कि इस अंक में एक ही दृष्टिकोण उभर कर आएगा. यकीनन इसकी अपेक्षा भी नहीं है क्योंकि कोई कारण नहीं है कि अनेकों में से एक दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी जाए. पर हां, हम सोचते हैं कि इस अंक में कुछ व्यापक समान रुझान, जैसे कि, पारिस्थितिकीय संरक्षण और सामाजिक-आर्थिक न्याय और समता के प्रश्न, अधिक जवाबदेही और सघन लोकतंत्र की संभावना और विभिन्न प्रकार की विविधता का उत्सव (विविधता का अर्थ विभाजन न बने यह सावधानी रखते हुए), लक्षित हों. हम मानते हैं कि हमारे, सम्पादकों के, उपरोक्त बिंदुओं के पीछे का कारण, लेखकों की पसंद है, पर कुछ सीमा तक ही, क्यूंकि कई संदर्भों में हम स्वयं ही, विषय-स्थिति क्या होने वाली है, इस से अनभिज्ञ थे. हालांकि जटिल और उलझन वाले कारक जो हैं, वह उस व्याख्या में है, जहां लोगों ने धारणीय और क्षमता और न्याय की बात की है ना कि व्यापक गंभीर विषयों की.

अपने समापन निबंध में अपनी स्वयं की धारणाओं के साथ-साथ हम बहुत बारीक विश्लेषण में भी जाएंगे. हम विस्तार से देखेंगे कि 2100 का भारत क्या होगा, जैसा कि एक महिला कई स्थानों पर एक साथ आयोजित हो रही एक विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए बता रही है. वह एक सभ्यता के बारे में बात कर रही है जो कि पांच महत्वपूर्ण आपस में जुड़े हुए वृत्त पर आधारित है : प्रत्यक्ष राजनीतिक लोकतंत्र, जिसमें कि सभी लोगों के पास अधिकार है, क्षमता है और ऐसे मंच हैं जहां निर्णय की प्रक्रिया में सबकी भागीदारी है ; आर्थिक लोकतंत्र, जिसमें कि उत्पादन के प्रकार और उपभोग के बाज़ार पर आमजन (यहां आमजन का अर्थ लोगों का सम्मिलित है ना कि राज्य) का नियंत्रण है, स्थानिक आत्मनिर्भरता, जो बड़े स्तर के आर्थिक संबंधों से अधिक महत्वपूर्ण है, पैसे या वस्तु की अपेक्षा साज - संभाल के रिश्ते केंद्र बिंदु में हैं ; सामाजिक न्याय, जो कि लोगों के विभिन्न वर्ग में समता और परस्पर सम्मान, साथ ही विभाजन करने वाली श्रेणियां जैसी कि जाति आदि के उन्मूलन को सुनिश्चित करता है ; संस्कृति और ज्ञान की विविधता, जिसमें कि हर प्रकार के ज्ञान और अस्तित्व का सम्मान है ; और इन सब का निर्माण का आधार धारणीयता, अनुकूलन और प्रज्ञता है जिसमें कि शेष प्रकृति के साथ सम्मान का संबंध है और एकात्म है. प्रस्तुतकर्ता 21वीं सदी से कई उदाहरण देती हैं

जिसमें कि सम्भव बदलाव के संकेत मिलने शुरु हो गए थे. ऐसा नहीं है कि पूरी तस्वीर बहुत सुहावनी और सकारात्मक है, परंतु जहां समता, न्याय और पारिस्थितिकीय प्रज्ञता की प्रक्रिया ने मजबूती पकड़ी है, कई बदलाव पहले ही दिखने लगे हैं.

असम्भव आदर्शलोक (यूटोपिया)

इस अंक में कुछ पाठक, लेखकों के दृष्टिकोण को आदर्श स्थिति का नाम देकर आलोचना कर सकते है. जो इस भविष्य को सत्य मान रहे हैं, उनपर, सपने देखने वाला, अवास्तविक और स्वयं के संसार में ही रहने का, आरोप लग सकता है. यह समझा जा सकता है, क्योंकि, हमें लगातार इस का भान कराया जाता है कि स्थिति कितनी गंभीर है और एक छोटा सा परिवर्तन भी कितना मुश्किल है और फिर उसमें निरंतरता रखना ..... और वह भी उनके लिए, जिनको इतिहास का ज्ञान है कि ऐसी ही परिकल्पना से कितनी ही क्रांतियां हुईं परन्तु विफल हो गयीं.

सही है, समझते हैं, पर हम स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि हमारी बात न्यायसंगत है. ऐसे आंदोलन जिनका आधार समता, न्याय, धारणीय पारिस्थितिकीय, निष्पक्षता, शांति, आदि है, अपनी आदर्श स्थिति को प्राप्त करने में विफल हुए होंगे, परंतु ये आंदोलन बहुत से महत्वपूर्ण बदलावों के लिए स्थान बनाने में सफल हुए हैं. उदाहरण के लिए, महिला आंदोलन, या जनजाति लोगों के संघर्ष. जिन्हें 'विकलांग' बुलाया जाता था, या जिन्होंने लोकतांत्रिक सुधारों के लिए लड़ाई लड़ी, या जिन्होंने उपनिवेशवाद की जंजीरों से मुक्ति दिलाई, उनके संघर्षों के द्वारा हम देख सकते हैं कि कितना और क्या प्राप्त हुआ. यदि इन आंदोलनों के अग्रदूतों ने पहली मुश्किल आते ही अपने सपने त्याग दिए होते या आसपास खड़े किये गए संशयों के आगे घुटने टेक दिए होते तो आज ऐसे किसी बदलाव को हम देख नहीं पाते.

कई अंतरराष्ट्रीय समझौते और कई देशों के संविधान में आदर्शवादी तत्व हैं. परंतु हम उनको सिरे से निरस्त नहीं करते. इसके विपरीत, जब कभी मानव अधिकार और पारिस्थितिक हनन होता है तो उसे रोक पाने में या रोकने की दिशा में आगे बढ़ने और आगे जाकर नीति निर्माण के लिए दिशा निर्देश के दस्तावेजों की तरह यह काम करते हैं. इस तरह दूरदृष्टि के दस्तावेज़ उस दीपस्तम्भ की तरह होते हैं जो किसी अँधेरी रात या कोहरे में दूर से दिखाई देते हैं, क्यूंकि कम से कम ये हमें कुछ उम्मीद देते हैं और दिशा का भान कराते हैं. बहुत समय से क्या 'व्यवहारिक' है और क्या 'वास्तविक', इस विचार में उलझ कर हम सपने देखने की अपनी शक्ति को खत्म करते जा रहे हैं. हम दृढ़ता से कह सकते हैं कि सपने देखना और परिकल्पना करना पूरी तरह वैध है और एक जरूरी अभ्यास है, विशेषकर भौतिक वास्तविकता के दलदल में फंसे नैराश्य और कुटिलता के वर्तमान संदर्भ में.

जैसा कि एडुआर्डो गालेआनो, अर्जेंटीना फिल्मों के फिल्म निर्देशक, फर्नांडो बिरि, को उद्धृत करते हैं:

'आदर्शलोक क्षितिज पर है. मैं दो कदम उसकी ओर बढ़ाता हूँ; वो दो कदम मुझसे दूर खिसक जाता है.

मैं अगले दस कदम चलता हूँ, और आदर्शलोक और दस कदम मुझसे दूर दौड़ जाता है.

मैं कितना भी चलूँ, मैं कभी उस तक नहीं पहुंचता.

तो फिर आदर्शलोक का क्या अर्थ हुआ? अर्थ यह है कि: वो हमें निरंतर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है."

बहरहाल, वह जो हमको अमेरिका का सर्वोत्तम सपना बेच रहे हैं, जहां हम में से हर एक के पास अपार आर्थिक संपदा होगी और नवीनतम कार और आधुनिक घर इत्यादि होंगे, वो हमें असंभव ही नहीं बल्कि भौतिक अधिग्रहण

से 'अच्छे जीवन' का लोभ भी उन्माद की हद तक बेचने में सफल हैं. यह दबाव है ना कि सपना : हमारा ग्रह इन वादों को पूरा नहीं कर सकता और इनको पाने के प्रयास में गहरी असमानताएं बन जाएंगी जिसके फलस्वरूप सामाजिक टकराव की स्थिति बनेगी. और इसलिए जैसा कि हम में से एक ने पूर्व में अपने दूसरे सहकर्मी के साथ मिलकर लिखा था : ' प्रत्यक्ष असंभव पथ ' (कट्टर पारिस्थितिकीय लोकतंत्र) और सरासर बेवकूफी के पथ में से हमें यदि एक चुनना है तो हम पहले वाले को चुनेंगे (श्रीवास्तव और कोठारी 2012).

पुस्तक में क्या शामिल नहीं है

इस अंक के निबंधों के विषय, विविध और व्यापक होने के बाद भी सभी क्षेत्रों की बात नहीं हो पायी है और कई विषय क्षेत्र छूट गए हैं. इन निबंधों के लिए लेखकों से अनुरोध के समय भी हम कुछ छूट रहे विषयों के प्रति जागरूक थे और इस प्रक्रिया के दौरान भी कई और विषय हमारे संज्ञान में आए. कुछ विषय जैसे, अध्यात्म, धर्म और संस्कृति के कुछ आयाम (भाषा के अलावा) या तो छूट गए हैं या कहीं अप्रत्यक्ष रूप से उनकी बात हुई है. प्राथमिक रोजगार जैसे कि मछली पालन पूरी तरह छूट गया है, मानव अधिकार और उसमें विशेषकर बाल अधिकार या 'विकलांग' जन की बात, एक दूसरी विषयगत कमी रही है, यही भूमि और आम संसाधन के अधिकार के साथ भी हुआ है। धर्म के अलावा अन्य क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों की कहीं कोई बात नहीं है. युवा पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया गया है. समष्टि अर्थशास्त्र या व्यापक अर्थशास्त्र का अगर निबंध जोड़ा जाता तो वह एक उपयोगी जोड़ होता, यही बात, भविष्य के कामों की बात, के विषय में भी है. खेल और मनोरंजन की पूरी तरह उपेक्षा की गई है - किसी तरह, बहुत अंत तक भी, यह हमारी परिकल्पना का कभी हिस्सा था ही नहीं. अंततः बहुत से निबंध, विषय, यदि व्यापक रूप से नहीं तो भी, को कुछ सीमा तक छूने में सफल हुए हैं और इसका कारण कुछ जगह की कमी और कुछ लेखकों की विशेषज्ञता है.

हालाँकि निबंध किसी क्षेत्र विशेष पर केंद्रित नहीं है, फिर भी, स्पष्टता से दिखता है कि समाहित भूगोल निर्धारण में कुछ क्षेत्र छूट गए हैं, जैसे कि उत्तर-पूर्वी भारत, और द्वीप पर रहने वाले समुदाय.

संदेह नहीं कि पाठकों को कई और कमियां दिखेंगी जिसके लिए संपादक पूरी तरह अपनी जिम्मेदारी लेते हैं. हमने यह भी समझा कि सभी विषय और सभी क्षेत्र को शामिल करना है तो कई अंक लिखने की आवश्यकता होगी। आशा है कि आगे के अंक से कई और लेखन और संवाद की प्रक्रिया शुरू होगी, जो कि भारत के भविष्य की परिकल्पना की निरंतर चलने वाली प्रक्रिया का हिस्सा होगी, जिसमें कि छूटे हुए विषय और क्षेत्रों को भी शामिल किया जा सकेगा.

अंत में यह साफ करना चाहते हैं, हालांकि सब सार्थक है कि ना तो यह अंक और ना इसके कोई भी संपादक ऐसा कोई दावा कर रहे हैं कि यह एक निश्चित दृष्टिकोण है या संदर्भित विषय की निश्चित बात यही है. हर विषय के विभिन्न दृष्टिकोण संभव है और वह भी तब, जबकि, हम एक संभावित भविष्य की परिकल्पना की बात कर रहे हैं ना कि उसका विश्लेषण जो पूर्व में हो चुका है या वर्तमान में हो रहा है. साथ ही ऐसा कोई दावा भी नहीं है कि यह सारे दृष्टिकोण और परिकल्पना जो यहां दी गई हैं वह आपस में अविरोधी हैं. हालांकि हमें उम्मीद है कि इन तीस विभिन्न निबंधों का जो संकलन है वह सुसंगत समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो कि न्याय, समता और सम्पोषण के समान मूल्यों पर आधारित है और आशा है कि ऐसे अन्य विचार और मीमांसा और संवाद को प्रेरित करेगा जिनसे दृष्टिकोण अधिक मजबूत, प्रेरणादायक और अंततः क्रियाशील बनेगा.

भविष्य में मुड़कर देखें :

वर्ष 2100 का भारत, दक्षिण एशिया, और विश्व

जैसा कि अशीष कोठारी और के. जे. जॉय ने वर्णन किया

सं 2100 की शीत ऋतु में दक्षिण एशिया के 30 स्थानों पर एक साथ आयोजित 10वें विकल्प महासंगम में मीरा गोंडवंकर का उद्बोधन :

10वें विकल्प महासंगम में आप सबका स्वागत है, यह पहली बार है कि हम दक्षिण एशिया के 30 विभिन्न स्थानों पर एक साथ इस महासंगम का आयोजन कर रहे हैं, जहां आप जैसे हजारों लोग एकत्रित हुए हैं जो स्व-पोषित न्याय के लिए एक अति-उत्साही नवाचार पर काम कर रहे हैं. सर्वप्रथम, संचार व्यवस्था संभालने वाली अनूठी टीम को मैं बधाई और शुक्रिया देना चाहूंगी जिन्होंने प्लूरिनेट, एक ऐसी विकेंद्रित व्यवस्था जिसने पिछली शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रचलित केंद्रीय नियंत्रित इंटरनेट का स्थान लिया, के द्वारा यह संभव बनाया। मैं स्वयं को खुशकिस्मत समझती हूं कि, अभी यहां जब मैं अपनी भाषा में बोल रही हूं, प्लूरिवर्सिटी के वॉलिंटियरों, जिन के विषय में मैं बाद में बोलूंगी, की मदद से 300 भाषाओं में मेरा उद्बोधन संचारित हो रहा है. साथ ही मैं स्वयं को सम्मानित पाती हूं कि पिछले कुछ दशकों में हुए बदलाव की कहानी संक्षिप्त में कहने के लिए मुझे चुना गया, जो आप जैसे अनगिनत के द्वारा उपलब्ध कराई गयी जानकारियों पर आधारित है, जिन्होंने इस बदलाव को जीया है. आपसे जो प्राप्त हुआ उसको मैंने पूरी सच्चाई से रखने का प्रयास किया है, परंतु अनजाने में व्याख्या में कहीं गलती होने की संभावना है जिसकी जिम्मेदारी मैं लेती हूं. बदलाव के प्रयासों की इस यात्रा की कई और भी कहानियां होंगी, उम्मीद करती हूँ कि वो सब भी सफल हों !

मैं आपसे माफी मांगना चाहती हूं कि जब मैं अपनी बात में वर्ष या दशक का प्रयोग करूंगी तो वह ग्रेगोरियन कैलेंडर के संदर्भ में होगा. हालांकि खुशकिस्मती से विश्व में कैलेंडर और समय के नक्शे और समय के विचार में विविधता की स्वीकार्यता बढ़ी है, हम में से बहुत लोग अपने इस्तेमाल में एक ही का संदर्भ लेकर बड़े हुए हैं (जबकि मेरे अपने परिवार में मेरे पूर्वज भिन्न कैलेंडर इस्तेमाल करते रहे हैं). मैं उम्मीद करती हूं कि यहां मेरे द्वारा प्रयोग की गयी समय अवधि को आप अपनी पसंद और सुविधा के कैलेंडर और समय के नक्शों में बदलने के लिए आसान रास्ते निकाल लेंगे.

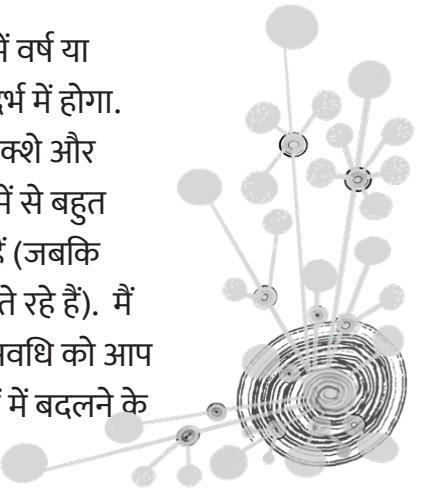

हम में से वह लोग जो प्रौढ़ या वृद्ध हैं, यानी उस उम्र के हैं कि 21वीं सदी के मध्य के बदलाव की उथल-पुथल से उनका परिचय है, तो उन्हें याद होगा कि वह समय आग पर चलने जैसा था. भिन्न-भिन्न अस-मानताएं और अन्याय, पारिस्थितिक विनाश, और बहुत कुछ वह जो वे भूलना चाहेंगे, सन 2030 से 2050 के बीच अपने चरम पर था. पूंजीवाद, राज्यवाद, अधिनायकवाद, पितृसत्तावाद, जातिवाद, मानव--केन्द्रीयता और अन्य ढांचागत ताकतों के जोड़ से उत्पन्न दलदल से बाहर निकलने की यह एक धीमी प्रक्रिया थी. पर हम बाहर निकले, उन बिखरे हुए कई छोटे नवाचरों के सहारे, जिन्होंने धारा के विरुद्ध चलने का साहस किया, और साथ जुड़कर अपनी एकता और नेटवर्क के सहारे बेहतर भविष्य का सपना देखा. यह सब पिछले कुछ दशकों में ही हुआ, हालांकि रुकावटें आती रहीं, पर फिर भी अधिक मजबूती से हम समता, न्याय, पारिस्थितिक-समझ, स्वयं-स्फूर्त और शांति, व और भी बहुत कुछ जो इस बड़े परिवर्तन में महत्वपूर्ण था, उसकी दिशा में आगे बढ़ सके. आज मैं इस अनूठी यात्रा की विशेषताएं विस्तार से आपके सामने रखूंगी। मैं यह स्वीकार करती हूं कि आप में से बहुत लोगों से मुझे ढेर सारी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुईं, परंतु एक संसक्त आख्यान बनाने का मुझे समय नहीं मिल सका, इसलिए जो मैं यहां प्रस्तुत करूंगी संभव है, कि वह कहीं-कहीं जुड़ा हुआ ना लगे और वरीयता या महत्व के क्रम अनुसार भी ना हो. आप में से हर एक को यह तय करना है कि इस कहानी में सबसे महत्वपूर्ण आपके लिए क्या है, आप अपने परिवार, साथी व आगे की पीढ़ी के लिए कहानी के कौन से हिस्से को प्रमुखता देना चाहेंगे या वो सब जो अभी युवा हैं, वो कहानी का कौन सा हिस्सा अपने शेष जीवन में प्रेरणा की तरह देखना चाहेंगे.

हां, एक बात और, मैं यहां अपनी प्रस्तुति में कई स्थान, आंदोलन, और नवाचारों का जिक्र करूंगी ; आप में से कुछ उस स्थान से परिचित भी होंगे, जो वहां पर हुए बदलाव के लिए जिम्मेदार हैं. परंतु यदि कुछ ऐसा है जिसके बारे में आपको ज्ञात नहीं है और आप विस्तार से जानना चाहते हैं, तो मैं बताना चाहूंगी कि जानकारी इस वेबसाइट पर मिलेगी: www.vikalpsangam.org .

एक उल्लेखनीय परिवर्तन से मैं अपनी बात शुरू करूंगी : जो ग्राम्य और शहर के बीच का बड़ा अंतर खत्म होने से संबंधित है. पिछले कुछ दशकों से मानव आबादी ग्रामीण, ग्राम्य-शहर और शहरी बसाहट (पूरी बसाहट में बिना किसी फासले के निंरतरता) की एक व्यापक सामाजिक- आर्थिक और पारिस्थितिकीय इकाई की तरह हो गयी है जो अपनी अधिकांश जरूरत को पूरी करने में सक्षम है या सभी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए अपने-आप में : स्वयंस्फूर्त, अदला बदली के क्षेत्र या स्वराज अर्थव्यवस्था की तरह पनपी है : बड़े सांस्कृतिक और पारिस्थितिक परिदृश्य में सरकारी संस्थान की स्थापना, ग्राम सभा और मोहल्ला सभा के प्रति जवाबदेही, जिनसे मिलकर यह बने हैं। इन क्षेत्रीय- पारिस्थितिक या क्षेत्रीय- जैविक प्रशासन का सीधा-सादा काम नदी घाटियों को देखना (या उसके केवल एक हिस्से को देखना, जहां नदी विशाल है, जैसे कि उप घाटियां और छोटे जलाशय), या पर्वत श्रंखला के ऊपर या आसपास जो है उसको देखना. 21 वीं सदी के शुरू के दो से तीन दशक के आरम्भिक नवाचार, जैसे अरावरी संसद या नदी-घाटी प्राधिकरण, से महत्वपूर्ण सबक मिलते हैं, यद्यपि, अक्सर, अपनी स्वयं की खामियां जैसे जाति और लिंग असमानता के कारण या तो आंशिक सफल हुए या कभी-कभी पूरी तरह असफल हुए। इलांगो आर., गणेश देवी, इला भट्ट और अन्य लोगों के काम से मिलने वाले विचारों से क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था और नियामक इकाइयों की संकल्पना में मदद मिली. क्षेत्रीय-पारिस्थिक-नियामन से भारत के भीतर राजनीतिक सीमाओं का पुनर्निर्धारण होना शुरू हो गया, और जैसा कि अब आप जान गए हैं, कि अधिकाँश जिला और राज्य की पारम्परिक इकाई या तो भंग हो गयी हैं या पारिस्थितिकीय और सांस्कृतिक आधारित इकाई में संविलीन हो गयीं हैं.

ऊपर वाली बात से जोड़कर, और अपेक्षा से विपरीत, 21वीं सदी के शुरू में गाँव से शहर की तरफ पलायन की गति कुछ धीमी होने लगी, और हजारों गांव अपने लोगों, जो पहले पलायन कर गए थे, की वापसी का स्वागत करने के लिए तैयार थे, उस युवा पीढ़ी का भी जो वहां पैदा भी नहीं हुई थी. इसका एक बड़ा कारण ग्रामीण इलाकों की

जीवंत अर्थव्यवस्था थी, जहां समाज में विकास के साथ सामाजिक और पदक्रम के स्तर पर भेदभाव कम हो गया था, तथा उनकी 'ग्रामसभा' लोकतांत्रिक चेतना संपन्न सुशासन का ऐसा केंद्र थी जिसे वह 'ग्राम स्वराज' कहते थे. उनमें से कई ने अपना घर उन शहरी युवाओं के लिए खोल दिया था जो कॉरपोरेट की अपनी थकानेवाली नौकरियां छोड़कर ग्रामीण जीवन की तरफ मुड़ गए थे, और स्थानीय समुदाय के साथ मिलकर परस्पर हित के कार्यों में लग गए थे, खेती और शिल्प सीखकर और नए कौशल और जानकारियों के साथ गांव की सम्पन्नता हेतु प्रयोग कर रहे थे. 21वीं सदी के शुरू में ही इसके उदाहरण दिखने शुरू हो गए थे, उदाहरण के लिए गाँव, जैसे, हिवड़े बाजार (महाराष्ट्र) और कुथम्बकम (तमिलनाडु), या जीविका के कार्यक्रम, जैसे झारक्राफ्ट (झारखंड) और कुदुम्बश्री (केरल) सफल हुए. जैसे-जैसे गांव परिवर्तित होकर ग्राम्य-शहर बसाहट में बदलते गए, इन प्रक्रियाओं में बढ़ोतरी होती गई.

इसके साथ ही, अधिकांश शहर स्वयं-स्फूर्त बनने की दिशा में बढ़ते नजर आने लगे : विशाल शहरों की बीमारी जो एक शताब्दी तक रही, उसने छोटे, प्रबंधनीय शहर बनाने की राह प्रशस्त की. इस कारण संसाधनों व् आवश्यकताओं के लिए गांव पर पराश्रित रहने की स्थिति में कमी आई, इसके स्थान पर बराबरी के स्तर पर एक दूसरे की आव-श्यकताएं, पानी, ऊर्जा, भोजन, और अन्य सामग्री की आवश्यकता, स्थानीय संसाधनों से या अपने आसपास से पूर्ति होने लगी ; कम से कम 75% सड़कें जन-परिवहन और साइकिल/ पैदल चलने वालों के लिए समर्पित की गई, हर कॉलोनी में ऐसे सार्वजनिक स्थान बहुलता में बने जहां बच्चे आराम से खेल सकें ; अधिकांश कॉलोनी ने अपने को शून्य कचरा उत्सर्जन कॉलोनी घोषित कर दिया ; और नागरिकों का एक बड़ा वर्ग मोहल्ला सभा की स्थानीय बजट और जन-सुविधा और सार्वजनिक स्थानों के प्रबंधन सहित सभी लोकतांत्रिक व्यवस्था में शामिल हुआ जिसे नगर-स्वराज कहा जाने लगा. पुणे, बेंगलुरु और अन्य शहरों में 21वीं सदी में हो रही पहल के परिणामस्वरूप कई मौलिक नवाचार सामने आए, जिनसे दूसरे शहरी इलाके भी सीख ले सकते थे व इसी

प्रकार के कार्यक्रम (विशाल शहरों की समस्याएं जैसे अरक्षणीय और अनुपयुक्त निवास का विरोध अब प्रखर हो रहा था) अपना सकते थे. चूँकि शहर- गांव असमानता के लिए सबसे पहले लिखने वालों में टैगोर एक थे, इसलिए उनको समर्पित एक राष्ट्रीय अभियान चलाया गया.

पहले शहरों में उद्योग और संस्थान का केन्द्रीयकरण था जिसने बाद में धीरे-धीरे औद्योगिक सुविधा, सेवा, और अन्य स्वास्थ्य और सीखना या शिक्षा भी) के विकेंद्रीकरण की राह बनाई. धीरे - धीरे सघन झुग्गी झोपड़ियों का स्थान गरिमा पूर्ण मकान, खुली जगह, जल और ऊर्जा में आत्मनिर्भरता, उत्साहपूर्ण सांस्कृतिक अवसर, स्वशासन और जवाबदेह शहरी प्रशासन, और जीविका में स्थानीय को प्राथमिकता, ने ले लिया. इसके शुरुआती उदाहरण भुज, कच्छ में बने घर है ; इसके अलावा 2020 के दशक में संविधान के 74 वें संशोधन में अन्य संशोधन लाकर शहरी विकेंद्रीकरण के सभी तत्व उपलब्ध किये गए.

जहां-जहां संभव था वहां ज्यादा से ज्यादा पुनःउपयोगी और स्थानीय माल आधारित ढांचागत विकेंद्रीकरण भी विकसित हुआ. पेट्रोल जैसे ऊर्जा के जीवाश्म स्त्रोत, उपयोग से बाहर होते गये और यदि उनका उपयोग कहीं रहा भी, तो वह बहुत सीमित या प्रतिबंधित स्तर पर व स्थानीय और पुनः उपयोगी सामान को मज़बूती प्रदान करने के लिए, ना कि विकल्प के प्रयोग को कम करने के लिए. प्राकृतिक रूप से बढ़ने वाले पौधों को बीच में रोपित करने के कहीं-कहीं प्रयोग किये गए, हरियाली के लिए स्थान का निर्धारण या छोटी झीलें, सड़क किनारे हरित गलियारे, भवन के वास्तु शिल्प में घोंसलों और बसेरों के लिए स्थान, इत्यादि अभिनव प्रयोग हुए (कुछ तो सैकड़ों वर्षों पुरानी पार-म्परिक बनावट से लिए गए), जिन्होंने शहरों के वन्य जीव और जैव विविधता के प्रवर्तन में योगदान दिया.

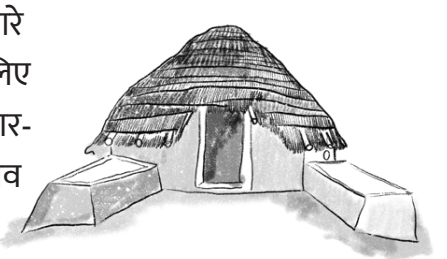

वन्य जीवन की बात करते हुए, और विशेषकर हमारी प्राचीन मान्य-ताओं को याद करते हुए कि हम सब प्रकृति का हिस्सा हैं जहां हर जीव का समान सम्मान है, मुझे यह सूचना देते हुए बहुत खुशी है कि

समुदाय-आधारित संरक्षण आज दक्षिण एशिया के अधिकांश हिस्से में मौजूद है, जहां समुदाय अपने स्वयं से ही या सरकार, शोधकर्ता और प्रबुद्ध समाज की मदद से प्राकृतिक पारिस्थितिकीय को संभालने और उसके संरक्षण का काम कर रहे हैं. ताजा सर्वेक्षण दिखाता है कि वन्य जीव पर अतिरिक्त ध्यान देते हुए आपसी संयोजन और पुनर्जीवन के प्रयासों के चलते अब देश के एक तिहाई हिस्से में पारिस्थितिकीय - तंत्र (ग्राम्य- शहरी संपूर्ण क्षेत्र) का विस्तार हो गया है ,जिससे अधिकांश वन्यजीवों की संख्या में अनापेक्षित रूप से बढ़ोतरी हुई है. मैदानी और समुद्री क्षेत्रों के शेष भाग में अधिकांश की यदि वहनीयता पर अतिरिक्त ज़ोर दिया जाये तो इस 33 प्रतिशत से भी अधिक क्षेत्र में जैव विविधता पुनर्जीवित होने की संभावना बढ़ी. मानव और वन्य जीव को अलग रखने की रूढ़िवादी निषेध की जो नीतियां थीं, जैसे 20वीं सदी के उत्तरार्ध और 21वीं सदी के पूर्वार्ध में बाघ संरक्षण नीति, इनसे इतर नई समझ बनी है कि विभिन्न प्रजातियों की आवश्कयकताओं पर पर्याप्त ध्यान दिया जाए तो विभिन्न प्रकार के जीवों का सह अस्तित्व संभव है, उन बाधित क्षेत्रों में भी जिनकी शिनाख्त पोषित समुदाय और बाहरी विशेषज्ञों ने मिलकर की है. 21वीं सदी के प्रारंभ में समावेशी संरक्षण के लिए लाए गए कानून, जैसे वन अधिकार कानून, से विशेष प्रोत्साहन मिला, और उसके बाद आये कानूनों से भी जो समुद्री क्षेत्र और ताज़े पानी के स्रोत के संबंध में बाद में जुड़े, जिसमें संरक्षण की जिम्मेदारी व क्षमता के विषय में समुदाय की बात के साथ उनकी सुरक्षा की भी बात को रखा गया. पर साथ ही जरूरी था गैर-कानूनी, प्रथागत या समुदायों के प्रकृतिगत जीवन जीने की प्रवृत्ति को पहचानना, ना कि इसे किसी पश्चिमी विचार की उपज समझना. 21वीं सदी के शुरू के कुछ दशकों में हुए महत्वपूर्ण दस्तावेजीकरण में समुदाय संरक्षित क्षेत्र (CCAs) की संभावना और यथार्थ की सच्चाई सामने आ गयी, और शहरों के पारिस्थितिकीय पुनर्जीवन (उदाहरणार्थ, बेंगलुरु और सेलम की झीलें) के साथ अगले कुछ दशकों में कई और उदाहरण भी सामने आए और ऐसे प्रयासों के प्रति विश्वास बढ़ा. यह घटना सबसे महत्वपूर्ण रही कि स्वयं को प्रकृति के एक हिस्से के रूप में देखने की राह हमें उचित लगने लगी और मानव के लिए अलग स्थान और शेष प्रकृति के लिए अलग

स्थान का विचार जैसे तिरोहित हो गया ; इस वैचारिक बदलाव की राह दिखाने के लिए हम अपने आदिवासी, ग्रामीण, किसान और मछुआरों के आभारी हैं। सरकार के भीतर अब पुराने वन विभाग का स्थान पारिस्थितिकीय - तंत्र विस्तार सेवा ने ले लिया, जिसका मुख्य कार्य समुदाय-आधारित-संरक्षण में मदद करना है.

समाज की जैव विविधता और वन्य जीवन के प्रति बढ़ती चिंता और दिलचस्पी के साथ-साथ लोगों की सामाजिक - आर्थिक स्थिति में अभूतपूर्व बदलाव देखने को मिला। घोर गरीबी (मूलभूत आवश्यकताओं के अभाव को भी यदि ले लें) का उन्मूलन हुआ ..... तालियां बजाने के लिए शुक्रिया ..... यह सब आपके प्रयास से संभव हुआ ! ..... सभी के लिए मूलभूत आवश्यकताओं की उपलब्धता सम्भव हुई जैसे पर्याप्त आहार-भोजन, साफ पानी और हवा, स्वच्छता, आवास, ऊर्जा, अच्छे स्वास्थ्य की स्थिति और सीखने के अवसर। हालांकि 21वीं सदी में अधिकार-आधारित कई कानूनों ने इस यात्रा में मदद की, पर यह भी समझ में आया कि वंचितों के कल्याण के लिए राज्य की जवाबदेही की मांग करना ही पर्याप्त नहीं है. यकीनन ऐसी 'कल्याणकारी नीतियों' ने कई दफा एक अलग प्रकार की वंचना को जन्म दिया - जैसे लोगों से उनके साधन, स्वयं व्यवस्था करने की क्षमता ले लेना, और जब (जैसा कि शुरू के दशकों में हुआ) कभी राज्य ने अपने हाथ खींच लिए या कल्याणकारी योजनाएं लागू करने में वह असमर्थ हुआ, तो उसने एक ऐसी स्थिति ला दी जब संपूर्ण व्यवस्था ध्वस्त होने जैसी थी, जहां लोगों के पास अपने स्वयं के संसाधन ही नहीं थे, जिनपर वह ऐसे संकट के समय में निर्भर हो सकें. अधिकार-आधारित नीतियां समय के साथ संप्रभुता और आत्मनिर्भरता की सामाजिक प्रक्रिया में बदल गईं, जहां समुदायों को अपने अधिकारों, क्षमताओं को विकसित करने का ऐसा मंच मिला जिससे वे स्वयं ही या स्थानीय उत्पादन और उपभोग के क्षेत्रीय संबंधों में अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को सुनिश्चित कर सकें ..... यकीनन इससे ऐसे समाज का उदय हुआ जिसमें सब लोग उत्पादक भी हैं और उपभोक्ता भी. यह 'श्रम या कर्म ' के स्वरूप से भी संबंधित है जिस पर मैं कुछ देर बाद लौटूंगी.

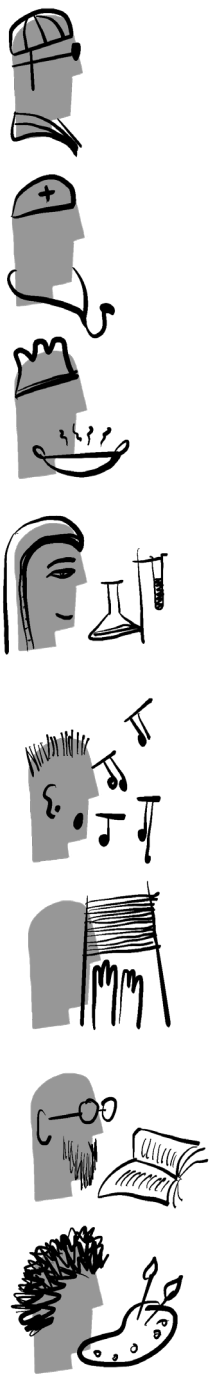

कृषि, चरवाह, मछली पालन, और वानिकी की प्राथमिकता, जैविक और पारिस्थितिक संवेदनशील तरीकों से भोजन और अन्य मूलभूत आवश्यकताओं की स्थानीय पूर्ती करना है. 20 वीं सदी के मध्य में कृषि उपयोगिता- आधारित (उपयोग-आधारित उत्पादन का उद्देश्य मानव की कई आवश्यकताओं की पूर्ती और समृद्ध मानवीय जीवन) से नगदी फसल, एकल- सांस्कृतिक, अधिकाधिक बाहेर निवेश आधारित उत्पादन हो गया था, जिसमें अब परिवर्तन आया है. समुदाय, अब अधिकांशतः अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं को बिना बड़े बाजार व्यवस्था में जाए पूरा करने में सक्षम हैं. यह जीविका व्यवस्था एक बड़ी जैविक-उत्पादन व्यवस्था का हिस्सा है जो कि भोजन, चारा और ऊर्जा की आवश्यकता की पूर्ति, मिट्टी में आवश्यक पोषण की पूर्ति, और साथ ही कृषि आधारित केंद्रीय मूल्य संवर्धन अवसर को सुनिश्चित करता है. कृषि-रसायन और अलोकतांत्रिक तकनीकें जैसे अनुवांशिक सुधार, को पूरी तरह निरस्त कर दिया गया, अधिकांश जीविका का आधार स्थानीय बीज और नस्ल हैं, और खाद और कीट-बीमारी से सुरक्षा के लिए स्थानीय पदार्थ. बीज, स्वयं- स्फूर्त चरवाह, कई प्रकार की स्वयं-स्फूर्त कृषि प्रथा को केंद्र में रख कर किये गए अनेक आंदोलन और जी एम फसल और 20 वीं सदी के उत्तरार्ध व 21वीं सदी के पूर्वार्ध की संकर नस्लों के विरुद्ध चले अभियानों का इन परिवर्तनों में बड़ा योगदान है.

विभिन्न प्रकार की सामाजिक असमानता और अन्याय अब धीरे-धीरे कम होने की दिशा में है, जो कि सबसे मुश्किल काम था. जाति और लिंग आधारित अन्याय की जड़ें सबसे अधिक गहरी थी. जो पहले दलित कहलाते थे, या समाज में हाशिए पर रहने वाला जो वर्ग था, हालांकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की नीतियों में से आरक्षण की नीति ने उनको शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में अवसर देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वर्ष 2030 तक आते-आते आरक्षण की नीति का स्थान आर्थिक और सामाजिक सशक्तिकरण और एकीकरण की दिशा में उठाए गए कई कदमों ने ले लिया, जैसे, भूमि अधिग्रहण, मिले-जुले आवास, जातियों में आपस में सामाजिक रिश्ते बनाने पर प्रोत्साहन,

आदि. इस सबके परिणामस्वरूप जाति की पहचान का महत्व घटता गया और यह वर्ग उन्नति की राह पर चलने लगा, और जाति-विहीन समाज की अंबेडकर की कल्पना के साकार होने की दिशा में सफलता मिली. जाति और लिंग आधारित व्यवसाय की प्रकृति में बदलाव आया और व्यवसाय जाति और लिंग के प्रति तटस्थ हो गए. अब कोई भी किसी भी व्यवसाय में संलग्न हो सकता है, जहां आवश्यक कौशल सीखने के अवसर सबके लिए बराबर हैं. लिंग और लैंगिकता के विषय में, 21वीं सदी के शुरू के दशकों में विभिन्न मोर्चों (भूमि अधिकार और समान वेतन) पर स्त्रियों के समान अधिकार के लिए आम जागरूकता बढ़ी, विभिन्न लिंग और लैंगिक पहचान के लिए स्वीकार्यता बनी (सर्वोच्च न्यायालय ने समलैंगिकता पर अपने दृष्टिकोण में ढील दी, और संसद में युवा सदस्यों की संख्या बढ़ने से रूढ़ीवादी सोच के प्रतिरोध कम हुए), समलैंगिक संबंधों को कानून और समाज ने स्वीकार किया. मुख्यधारा मीडिया ने, अन्य कई क्रांतिकारी परिवर्तनों में अपनी भूमिका के विपरीत, 21वीं सदी के शुरू के दशकों में इस विषय के प्रति समाज को संवेदनशील बनाने में बहुत बड़ी और सकारात्मक भूमिका अदा की.

परिवार, जैसे आज हैं, उनमें पहले से बहुत बदलाव आया है. हालांकि सेवा और पोषण की उनकी मुख्य भूमिका वैसी ही है, पर अब परिवार में उत्पीड़न और शोषण का स्थान नहीं है, इसके पीछे 21वीं सदी के मध्य में स्त्री और बच्चों की सुरक्षा और अधिकार के लिए चलाए गए कई आंदोलन हैं. अब घर के कामकाज व अन्य गतिविधियों में सभी लिंग (समरूपता के बिना) की बराबर हिस्सेदारी है, जैसे बच्चों का लालन--पालन, खाना पकाना, बुजुर्गों की देखभाल इत्यादि ; एक और चीज ने इसमें मदद की है, और वह यह है कि अब जिम्मेदारियां पास-पड़ोस के मध्य सामाजिक हिस्सेदारी की तरह हैं. विवाह, जोड़ी या रिश्तेदारी का आधार अब जाति या धर्म नहीं रह गया है. परिवार का स्वरूप भी अब बहुत चौंकानेवाले रूप में सामने आया है, जैसे किन्हीं लिंग का परस्पर जुड़कर परिवार बनाना, जिसके पीछे के बहुत से अन्य कारण (प्रेम के अलावा भी) जिसमें बच्चों और बड़ों की देखभाल, शामिल हैं.

संभवतः समाज को सबसे प्रभावित करने वाला जो एक बदलाव है वह है 'विकलांग' के प्रति हमारा व्यवहार। हम सभी किसी न किसी प्रकार से सक्षम और अक्षम है और जो किसी विशेष शारीरिक या मानसिक कमी की वजह से अक्षम हैं और ऐसे लोग, जो सामान्य से अलग होने की चुनौती से जूझ रहे हैं, उनकी उपेक्षा के हमारे सदियों पुराने रवैये को खारिज कर दिया गया है. मानव की बसाहट और उपयोग के सभी ठिकानों में बदलाव हो रहा है जिसमें सबके समावेश और सब की पहुंच का प्रावधान है, विशेषकर ऐसे लोगों को ध्यान में रखते हुए जिन की आवश्यकता अलग है. सीखने-सिखाने और शिक्षा के स्थान, मीडिया के विभिन्न क्षेत्रों, में विशेष आवश्यकता वाले लोगों के प्रति नज़रिये में बदलाव आया है कि यह किसी प्रकार से कमतर नहीं है और मानव वैविध्य का हिस्सा मात्र हैं.

असमानता (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक) और अस्थायित्व के मुख्य क्षेत्र, व्यक्तिगत और राज्य के अधीन संपत्ति, का युग अब खत्म होने को है. 21वीं सदी के प्रारंभिक दशकों में कुछ समुदाय, जैसे मध्य भारत का मेधा-लेखा, ने क्रांतिकारी कदम उठाते हुए पूरी कृषि भूमि को गांव की सामुदायिक भूमि में परिवर्तित कर दिया, साथ ही जंगल, पानी और चारा भूमि को भी राज्य अधिग्रहण से हटाकर अपने सामुदायिक अधिकार में ले लिया। मुझे अभी तक इस पूरे प्रकरण के संदर्भ में मेरे नाना, जो उसी क्षेत्र से हैं, द्वारा सुनाई गयी कहानी याद है. आर्थिक और सामाजिक जीवन में इसके सकारात्मक परिणाम को देखकर अन्य भी ऐसे कदम उठाने के लिए प्रोत्साहित हुए. सबसे पहले आदिवासी और जनजातीय क्षेत्रों ने बदलाव की पहल की, जिनकी परम्परा में ही सामुदायिक और संरक्षण की व्यवस्था थी ; गैर आदिवासी कृषक समुदायों को बदलाव में समय लगा और शहरी क्षेत्र वो रहे जहां पर सबसे अधिक विरोध की स्थिति रही और जहां अभी तक भी पूरी तरह बदलाव नहीं आ पाया है. घरों के मालिकाना हक में बदलाव के लिए विरोध ज़ारी है, परंतु संपत्ति के अन्य स्रोतों के साथ, यह निरंतर चर्चा है कि पारिवारिक विरासत से जो मिला है उससे मुक्त होने की आवश्यकता है. फिर भी आर्थिक लोकतंत्रीकरण के साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों में बराबर की

हिस्सेदारी, जिसकी चर्चा मैं नीचे करूंगी, सहभागिता और समानता के मूल्यों में निरंतर बढ़ोतरी के चलते, संपत्ति में असमानता, जिसमें व्यक्तिगत विरासत एक मुख्य पहलू है, को प्रश्न करना भी अब सरल हो गया है.

एक शताब्दी पहले की व्यवस्था में हुए क्रांतिकारी बदलाव, जिसमें भूमि (और शेष प्राकृतिक संसाधन) के पुनः सार्वजनिकरण को भी शामिल किया गया, से अर्थव्यवस्था काफी हद तक लोकतंत्रीय बनी. निजी निगमों और राष्ट्र-राज्य की शक्तियों के विरोध में हुए आंदोलनों, विशेषकर विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले कामगारों द्वारा किये गए आंदोलनों, से रास्ता निकला। एक लंबा समय ऐसा था, जबकि कामगार संगठनों, जो अधिकांशतः किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़े थे, से जिस बदलाव की अपेक्षा थी, वैसे किसी बदलाव की दिशा में उनका कोई योगदान नहीं रहा, बल्कि गैर संगठित और गैर औपचारिक क्षेत्र के कामगारों की पूरी तरह उपेक्षा की गयी. अब नए प्रकार के कामगार संगठन हैं, जिसमें कचरा बीनने वाले, जंगल में काम करने वाले, मछली क्षेत्र और उद्योगों व खदानों के मजदूर हैं जिन्होंने अपना दृष्टिकोण छत्तीसगढ़ खदान श्रमिक संघ के शंकर गुहा नियोगी जैसे लोगों की तरह बनाया, जिसे प्रबुद्ध नागरिक संगठनों का समर्थन है, और जिन्होंने धीरे-धीरे उत्पादक नियंत्रण, काम करने के बेहतर तथा सम्मानजनक तथा इज़्ज़तदार हालात, पर्यावरण जिम्मेदारी, लैंगिक समानता और वेतन अनुमूलता पर ध्यान केंद्रित किया। कचरा बीनने वालों और जंगल में काम करने वालों के संगठन से अगर हम शुरू करें, जिन्होंने निगमों और राज्य संस्थाओं को हटाया, तो इन्होने आंदोलन से उत्पादन और सेवा सुविधा पर नियंत्रण का अधिकार प्राप्त किया। यह एक लंबी और मुश्किल लड़ाई थी, पूंजीवादी ज़मींदार और उन संस्थाओं के विरुद्ध जो प्राकृतिक संसाधनों को अपने अधिकार में रखे हुए थे और इतनी आसानी से अपने अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं थे, साथ ही इनको राजकीय संरक्षण भी प्राप्त था. इस पूरे विरोध और बदलाव को लेकर जितने आंदोलन हो रहे थे उनके सामने वह लोग थे जो कि उत्पादन के वैकल्पिक रास्ते दिखा रहे थे, उदाहरण के लिए 21वीं सदी के पहले,

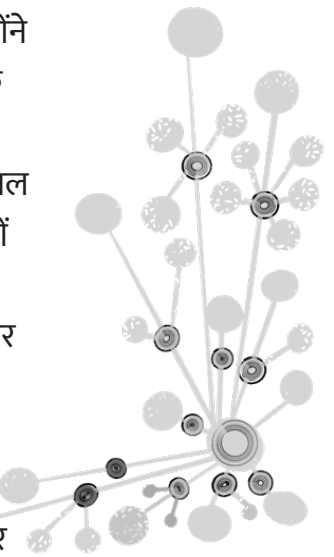

दूसरे और तीसरे दशकों में सामने तैयार होती दर्जनों उत्पादन कंपनियां और उत्पादकर्ताओं द्वारा चलाए गए सहोद्योग, जो कि बीती सदी में सरकार द्वारा स्थापित सहकारिता की भूल को नहीं दोहराने देने के प्रति सचेत थे. इसके साथ ही सजग उपभोक्ता आंदोलनों ने भी बहुत मदद की जिनके हित उत्पादक के हित से जुड़े थे, जो कि पारिस्थिति-कीय संवेदनशीलता व सही सामाजिक प्रक्रिया, और 'काम' के अर्थ में बदलाव (आगे विस्तार से बताया है), को समाहित करने की दिशा में बढ़ रहे थे.

इस महासंगम के आयोजन में अर्थव्यवस्था के बदलाव को साफ देखा जा सकता है. इन 30 स्थानों पर हो रहे इस आयोजन में स्थानीय व्य-वस्था के लिए ₹1 भी खर्च नहीं किया गया है ; जो भी आवश्यक था वह आदान-प्रदान प्रणाली या समय-साझा के रूप में किया गया. अर्थव्य-वस्था के लोकतंत्रिकरण का अर्थ यह भी हुआ है कि पहले के समय में प्रधान रहे मौद्रिक संस्थानों का स्थान विविध स्थानीय, समाज आधारित मुद्रा या लेन-देन के गैर मौद्रिक प्रकार ने ले लिया है. रुपया-टाका आदि अभी भी चलन में है, जैसा कि आप जानते हैं, पर मुख्यतः क्षेत्रीय व्यव-हार के लिए ही यह इस्तेमाल किया जाता है और अब यह पहले जैसा अनाम शक्तिशाली रूप में भी नहीं है. 21वीं सदी की बड़ी आर्थिक मंदी के दौर ने बैंक या वित्त मंत्रालय जैसे केंद्रीय वित्त संस्थानों की भूमिका पर बड़े सवाल खड़े किए थे, और एक समय पर लोगों ने इन संस्थानों को वित्त संकट से उबारने के लिए सरकार के हस्तक्षेप को पूरी तरह नकार दिया था. इसकी बजाय आर्थिक शक्तियां और व्यवस्थाओं के वि-केंद्रीकरण की मांग को लेकर आंदोलन हुए जिसमें राजकोष के सुधार और स्थानीय मुद्रा सृजन इत्यादि की मांग की गई. बौद्धिक समाज और समुदायों ने भी कौशल और विशेषज्ञता के प्रतिदान के गैर-वित्तीय पक्ष के लिए समय-साँझा के विचार को पुनर्जीवित करने के साथ इसकी नई अवधारणा को विकसित किया. इस बिंदु पर, हम यहां रुक कर, भाषा के वॉलंटियर्स का धन्यवाद करना चाहेंगे, यहां कई भाषाओँ में अनुवाद द्वारा सबके समझने के लिए इस सम्बोधन की उपलब्धता के पीछे इनके प्रयास हैं.

इससे संबंधित वह सब रोचक बदलाव भी हैं जो कि जीविका और 'काम' के क्षेत्र में हुए. 20वीं सदी के उत्तरार्ध और 21वीं सदी के पूर्वार्ध के घोर पतनशील समय के बाद जीविका के प्रमुख क्षेत्र या जीवन शैली (वानिकी, कृषि, पशु-चराना, मछली-पालन इत्यादि) और अन्य, जिनका आधार प्रकृति था, जैसे कि, कई हस्तकला, उन सब में पुनरुत्थान दिखाई देने लगा. इस सब के पीछे आदिवासी, छोटे किसान, कारीगर--मछुआरे, भेड़ चराने वाले, शिल्पकार और अन्य का प्रयास था जिन्होंने जीविका, भूमि और अन्य संसाधनों पर अपने अधिकार के लिए कानूनी लड़ाई लड़ी जिसने कई राष्ट्रीय मंचों पर अपना प्रभाव छोड़ा. बहुत सी सामुदायिक संस्थाओं और सामाजिक समूहों के साँझा प्रयास से जीविका के कई नए विकल्प इन समुदायों के युवाओं के सामने रखे गए जिसमें पारंपरिक और नए ज्ञान का समावेश और सीखने के वैकल्पिक स्थानों का निर्माण है (जैसे कि कच्छ में 'शाला' की श्रंखला, मैं गर्व से कह सकती हूँ कि मेरे दादाजी उसका हिस्सा थे), इन जीविका साधनों के द्वारा समाज को जीवंत रखने में औरतों की महत्वपूर्ण भूमिका की पहचान (जैसे कि डेक्कन डेवेलपमेंट सोसायटी की दलित महिलाएं, या माटी संगठन की हिमालयी ग्रामीण महिलाएं और स्वच्छ संगठन की शहरी महिलाएं), और इस सब को विभिन्न क्षेत्रों में चल रही आर्थिक लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया से जोड़ा. रोचक तथ्य यह है कि सूचना प्रौद्योगिकी जैसे दूसरे क्षेत्रों में जिस 'पेशेवर' का चलन था, वो 'पेशेवर' अब प्राथमिक जीविका क्षेत्र में आना चाह रहे थे ; शुरुआत में यह पारंपरिक उपजीविका से कटे हुए दिखाई देते थे, परन्तु समय के साथ सीखने-सिखाने और सहयोग के आपसी सामंजस्य की प्रक्रिया बन गई. समय के साथ उत्पादन और सेवा का विकेंद्रीकरण हो गया और ये अर्थव्यवस्था और राजनीतिक प्रशासन के बढ़ते स्थानीयकरण के साथ जुड़ते गए, बड़ी केंद्रीय उत्पादन व्यवस्था अधिकांश क्षेत्र में घटती गई. आधुनिक व्यवस्था में कामगारों ने असुरक्षित और खतरे वाले काम करने से मना कर दिया जिसमें पूंजीवादी मालिक अपने ज्यादा फायदे के लिए पहले काम करवाते थे. कामगार अपने-अपने काम में अधिक लोकतांत्रिक अधिकार और बेहतर वेतन की मांग कर रहे थे, साथ ही ऐसे काम और उनके प्रकार की चाहना रखते थे जो कि अर्थपूर्ण हों

और व्यवस्थित हों. ग्राम्य-शहरी निर्बाध समावेश का निर्माण हुआ और व्यवस्था में भी आया, जिससे आज परिवार के लिए अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में संभावनाओं के अवसर उपलब्ध हैं. किसी भी व्यवसाय का प्राथमिक या अन्य श्रेणी का दर्जा नहीं रहा और जाति, लिंग या अन्य किसी पहचान से बंधे नहीं रहे.

काम के रूप में आए बदलाव से साज-संभाल और सांझेपन के प्रभावपूर्ण रिश्तों की वापसी हुई जो कि अर्थव्यवस्था का केंद्र बने. 20वीं और 21वीं सदी के कई दशकों में जबकि पूंजीवाद और आधुनिकता का बोलबाला था, यह रिश्ते (मानव और प्रकृति के बीच, समुदाय में लोगों के बीच, समुदायों के बीच, तथा अन्य) पूरी तरह उपेक्षित थे, या इन्हें दरकिनार कर दिया गया था, या इनका स्थान व्यवसायिक और शोषण के रिश्तो ने ले लिया था, या इनको किसी मूल मूल्य में बांधकर इनका वस्तुकरण कर दिया गया था, जिस प्रकार पर्यावरण संकट से निपटने के लिए बाजार आधारित उपाय सामने रखे जाते हैं. नारी वादियों ने रिश्तों के मानवीय पहलू और संपूर्ण समाज (अर्थव्यवस्था भी) में उनके अनंत योगदान को प्रमुखता से सामने रखा ; और इस तरह जहां वह खो गए थे या सही स्थिति में नहीं थे वहां उनकी ठीक से पहचान करने और वापसी की आवश्यकता पर ज़ोर दिया, साथ ही उनमें सुधार की आवश्यकता पर भी बल दिया जिससे किसी भी तरह की असमानता की संभावना न रहे.

उपरोक्त के फलस्वरुप सुबह 9:00 से शाम 5:00, सोमवार से शुक्रवार, जैसी अब काम की दिनचर्या नहीं है ; बजाय इसके 'काम' सामुदायिक जीवन के एक हिस्से के रूप में है, जिसमें आनंद और फुर्सत का मिला-जुला रूप है और जहां व्यक्ति एक साथ बहुत कुछ हो सकता है, मार्क्स की उस अवधारणा के स्तर पर जहां वो शिकारी, कृषक, चरवाहा और आलोचक, सब कुछ एक साथ है. कमरतोड़, एकरस वाले काम अब नहीं रहे ; कुछ यंत्रवत काम जो समाज के लिए जरूरी हैं वही सिर्फ बचे हैं और जो भी उन कामों को करने में सक्षम है मिलजुल कर वो काम करते हैं. चूँकि व्यक्तिगत संग्रहण के लिए कोई स्थान नहीं

है कि जिसमें ढेर सारी मेहनत खर्च हो, अब रचनात्मक गतिविधियां जैसे पढ़ना, लिखना, संगीत, नाच, चित्रकारी, इत्यादि के लिए ज्यादा समय उपलब्ध है, अधिकांशतः जो 'काम' में ही समावेशित हैं. उपरोक्त बहुत कुछ सीखने और शिक्षा में बदलाव से ही संभव हो पाया (इस पर आगे बात करूंगी), हाथ और पांव से होने वाले काम के प्रति सम्मान पुनः स्थापित हुआ, उस मानसिकता में बदलाव हुआ जिसमें काम और आनंद, उत्पादक और उपभोक्ता, मालिक और मजदूर पृथक थे ..... समाज में यह समझ बनने लगी कि जीवन को मृतप्राय बनाने वाले (युग पुरानी जीवन शैली का नाश और उसके स्थान पर बेरोचक, यंत्रवत नौकरियां ') व्यवसायों के स्थान पर जीवनयापन के विभिन्न स्वरूपों को स्थापित करना होगा। यह मार्क्स की परिकल्पना ' हर किसी की सामर्थ के अनुसार से और हर किसी की आवश्यकता की ओर ' की ओर बढ़ते कदम हैं.

इन सब में उपभोक्तावाद के संकट से निबटना सबसे मुश्किल था, बरसों विज्ञापन के द्वारा दिमागों को बहलाकर जो पीढ़ी तैयार हुई थी, उसकी जड़ तक में यह समाया हुआ था. परंतु उपभोक्तावाद के परिणामों के प्रति बढ़ती जागरूकता, इसके उन्मूलन के लिए उत्साहित और हतोत्साहित करने वाले कदम, अमीर लोगों के उपभोग व्यवहार की देखा - देखी विनाशकारी विकास के शिकार लोगों द्वारा विरोध और आपत्ति, इन सब से धीरे-धीरे बदलाव आया. उपरोक्त ' उपभोगिता की ऊपरी सीमा ' जो 2020 के दशक में स्थापित हुई थी, और वो सब जो कि संसाधनों का अत्यधिक उपभोग कर रहे थे, ने अपनी जीवनशैली को संधारणीय बनाया। 21वीं सदी के शुरुआत के विपरीत, हम अब उन पड़ोसियों से कम ईर्ष्या रखते हैं जो कि कम में सुखी हैं, 'अपरिग्रह ' के मूल्य को समझते हैं, जिसका मोटा-मोटी अर्थ है, जितना है - उसमें संतुष्ट, या संतुष्टि, और अब यह समाज के मूल्य के रूप में स्थापित हो गया है. मुझे याद है, जब मैं छोटी थी तब मेरे दादा-दादी अक्सर गांधीजी के प्रसिद्ध दर्शन, ' लालच ' और 'आवश्यकता' की बात करते थे, और मैं चुप रह कर उनका मजाक बनाती थी,
अब हम में से अधिकांश इसके असाधारण महत्व को समझते हैं.

जनसांख्यिकीय में भी बड़ा बदलाव आया है. पहली बात यह कि हमारी जनसंख्या डेढ़ अरब पर स्थिर हो गई है, क्योंकि 2020 और 2030 में महिला सशक्तिकरण, गरीबों की आर्थिक सुरक्षा, लड़के की चाह या गर्भपात और निरोध को लेकर धार्मिक विश्वास में कमी, के चलते जन्म--दर रोचक रूप से गिर गया था. केरल राज्य इसमें अग्रणी रहा. दूसरी बात यह कि हमारे बहुत से लोग दुनिया के दूसरे हिस्सों में जाकर बस गए, विविध संस्कृति के प्रतिनिधि और इस सत्य की पहचान के साथ कि भारतीय उपमहाद्वीप मानवीय सघनता के कारण दबाव में है विभिन्न देशों ने हमारे लोगों का स्वागत किया.

यदि मैं कहूं कि इन अभूतपूर्व बदलावों का आधार सीखना-सिखा-ना और शिक्षा था तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी. अब शिक्षा संस्थान सीखने-सिखाने व समुदायों में सम्पूर्ण लोक-कल्याण के मुक्त स्थान के रूप में परिवर्तित हो गए हैं, औपचारिक और अनौपचारिक, आधुनिक और पारंपरिक पृष्ठभूमि से आये हुए सह-सहायक (जो पहले 'शिक्षक' कहलाते थे!) और शिक्षार्थी सम्मिलित रूप से पाठ्यक्रम बनाने की प्रक्रिया में शामिल रहते हैं. अब सीखना/शिक्षा, गांधी की नई तालीम जिसमें सर, हाथ (और पैर) और दिल के समावेश के सिद्धांत, शेष प्रकृति के साथ एकात्म का भाव, और शेष मानव-जाति के साथ सम्मान जनक आपसी संबंधों के निर्माण, का मिला जुला संयोजन है. अब ग्राम्य-शहर के कई समुदायों में बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रिया समुदाय का सामूहिक प्रयास है ना कि पहले जैसे किसी संस्थान की चारदीवारी में होता हुआ. आप ऐसे बहुविविध केंद्र की कल्पना करें जहां युवा विभिन्न कौशल, मूल्य, दृष्टिकोण और ज्ञान व्यवस्था को सीख रहे हैं और विभिन्न संस्कृतियों से आए लोगों से संवाद कर रहे हैं ना कि वह विश्वविद्यालयीन व्यवस्था जहां छात्रों को किसी ढांचे में ढलने के लिए तैयार किया जाता था जो आगे जाकर निगमों और सरकारी निकायों के लिए कामकाजी मजदूर बनें.

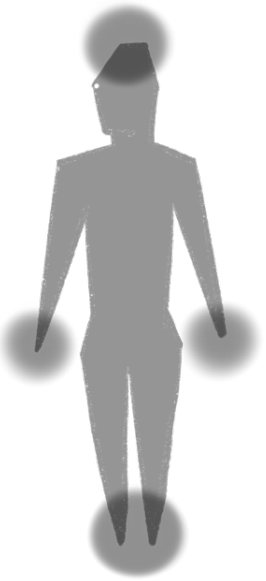

सीखना, शिक्षा और कौशल में बदलाव का सबसे बड़ा असर यह हुआ है कि ' पेशेवर ' लोगों पर निर्भरता काफी हद तक कम हुई है, अब हम

में से हर एक के पास जीवन में आवश्यक कुछ आधारभूत कौशल सीखने का अवसर है. कुछ सीमा तक हम अपने स्वयं के चिकित्सक, या शिक्षक, या बिजली सुधारने वाले, या रसोईया, और इस तरह अन्य भी हैं. यकीनन अभी भी हमारे पास विशेषज्ञ हैं, क्योंकि कोई भी हर क्षेत्र में विशेषज्ञता हासिल नहीं कर सकता, परंतु अब हम उस स्थिति से निकल गए हैं जो कि पिछली 21वी सदी में कई दशकों तक थी, जहां हम छोटी से छोटी बीमारी के लिए चिकित्सक के पास दौड़ लगाते थे, घर के छोटे-मोटे काम बिगड़ने पर किसी विशेष पेशेवर को बुलाते थे, कुछ सुधारवाने के लिए दुकान पर जाते थे. आप में से कई को उस समय की याद होगी या सुना होगा कि यदि खांसी या जुखाम भी होता था तो चिकित्सक के पास भीड़ लग जाती थी.

21वीं सदी के शुरुआत के कुछ दशकों में संवाद के इलेक्ट्रॉनिक माध्यम का बोलबाला था, आप में से कई को याद होगा या उन्होंने फेसबुक, ट्विटर इत्यादि का नाम सुना होगा. यकीनन हम ऐसे डरावने दौर से गुजरे हैं जहां पर कई लोगों ने अपनी त्वचा के अंदर इलेक्ट्रॉनिक चिप सिलवाने पर भी विचार किया, जिसकी मदद से वह अपने बारे में सभी तरीके की जानकारी हस्तांतरित कर सकें और दूसरों के विषय में भी जान सकें, बिना आमने-सामने मिले या वास्तविक संपर्क के. परंतु इस तकनीक का, जन सुरक्षा के नाम पर, निगमों और सरकार द्वारा गंभीर दुरुपयोग करने से ऐसी अतिक्रमणकारी तकनीकी के विरोध में संगठित आंदोलन हुए. लोगों को पूर्णतः आभासीय संबंधों का खोखलेपन धीरे-धीरे समझ में आने लगा, और आमने-सामने के संवाद पुनः स्थापित होने लगे, गांव की चौपालें और शहर के चौराहे पुनः प्रफुल्लित संवाद और सीखने-सिखाने के स्थान बनने लगे और ज्ञान की मौखिक परम्परा पुनर्जीवित होने लगी. ‘ सोशल नेटवर्किंग ’ अपनी डिजिटल परिभाषा से निकलकर संवादों के अपने असल अर्थ में परिलक्षित होने लगी. हां, इलेक्ट्रॉनिक कम्युनिकेशन अभी भी है और यहां मैं अपने संबोधन के प्रसारण के लिए उसका उपयोग भी कर रही हूं, परंतु मीडिया के बढ़ते लोकतांत्रिक नियंत्रण के चलते, इसने सामान्य बातचीत को खत्म नहीं किया है.

सामान्य विचार प्रक्रिया और अनुभव पूर्ण ज्ञान के बीच के अंतर् या विरोधाभास को मिटाने के लिए हुए आंदोलनों का भी उपरोक्त से संबंध है. मानवीय इतिहास के लंबे समय में इस अंतर का आधार जाति, वर्ग या लिंग का पदक्रम था, और वहीं पिछली कुछ शताब्दियों में पश्चिम, ' आधुनिक ' ज्ञान और ज्ञान मीमांसा का प्राबल्य, इस अंतर के मूल में थे. इन कारकों की पहचान की गई और उनका विरोध किया गया, ज्ञान के सभी पहलुओं का पूरी तरह लोकतांत्रिकरण किया गया. ज्ञान के विभिन्न प्रकारों को बेहतर तरीके से समावेशित और संकलित किया गया, कुछ विविधताओं को जस का तस रखते हुए विविधता में उदारता को समाहित किया गया. 21वीं सदी के ' सूचना के अधिकार ' कानून ने मुख्य भूमिका अदा की और सूचना सामान्यतः सबके लिए स्वतंत्र रूप से उपलब्ध हुई, हालांकि अब इस कानून का विशेष परिस्थिति में ही उपयोग रह गया है क्योंकि समाज में ज्ञान के सिद्धांत की सभी आमजन के लिए उपलब्धता की स्वीकार्यता बढ़ी है. सॉफ्टवेयर और हार्डवेयर, प्रकाशक, चिकित्सा, और अन्य क्षेत्र, जिनका जन्म एक सदी पहले ही हुआ था, में सबकी पहुंच की व्यवस्था के लिए सन 2020 उपरांत कई सफल आंदोलन हुए, ज्ञान के निजीकरण का हर एक प्रयास, लोगों द्वारा विफल कर दिया गया और हर प्रकार के ज्ञान को बेखटके सबके लिए उपलब्ध कराया गया. इसका अर्थ यह कतई नहीं था कि व्यक्तिगत नवाचारों को महत्व नहीं दिया गया ; इसके विपरीत उनको व्यापक सामाजिक मान्यता मिली. लोगों ने यह स्वीकार किया कि उनकी कल्पना और नवाचार उन सबके प्रति सामूहिक भेंट की तरह हैं जिनके सहयोग और मदद से वो इन नवाचार और विचारों पर काम कर सके हैं (20वीं सदी के उत्तरार्ध और 21वीं सदी के पूर्वार्ध में आयी बौद्धिक संपदा अधिकार की धारणा के पूर्व में यही भावना थी, जो कि हमारे पारंपरिक ज्ञान का हिस्सा रही थी).

ज्ञान के लोकतांत्रिकरण और उसकी विविधता की स्वीकार्यता के बढ़ते रुझान ने तकनीक को भी प्रभावित किया। पिछले कुछ दशकों में तकनीकी विकास और नवाचारों में लोकतांत्रिक और सामाजिक नियमों को ध्यान में रखा गया जिन्होंने यह सुनिश्चित किया कि विध्वंस

और बलशाली तकनीकों को बढ़ावा ना दिया जाए और उनके पनपने के पहले ही उन पर रोक लगा दी जाए. 21वीं सदी की शुरुआत में कई पारंपरिक तकनीक जो वर्तमान में भी प्रासंगिक हैं (उदाहरण के लिए मिट्टी के ढांचे), को पहचान दिलाने के लिए प्रयास किए गए, साथ ही उनके साथ कुछ नए नवाचार जोड़कर उन्हें दोबारा प्रयोग लायक बनाया गया (उदाहरण के लिए, कंप्रेस्ड मड ब्लॉक, जिसमें मजबूती देने के लिए जैव संहति इत्यादि कई चीजों का मिश्रण है). इसी समय ऐसे तकनीकी नवाचारों में भी बढ़ोतरी हो रही थी जो कि स्पष्ट रूप से सार्वजनिक क्षेत्र के थे, जैसे कि ओपन सोर्स डिजिटल और मानचित्र बनाने की तकनीक. हानिकारक तकनीकों (जैसे कि जेनेटिक इंजिनी-रिंग) और उनसे जुड़े लोगों को उजागर करना और प्रतिबंध लगाना, या वैकल्पिक तकनीकें जो उतनी या उससे बेहतर कारगर हों, पर काम करने में, प्रबुद्ध सामाजिक संस्थाओं की भूमिका प्रखर हुई. कुछ समय तक तो शासकीय और निगमीय एजेंसियों का विरोध विभिन्न प्रकार के क़ानूनी मुकदमों के द्वारा जारी रहा परन्तु तकनीकी लोकतांत्रिकरण की आंधी (अधिक मुक्त ज्ञान और सूचना, और स्थानीयकरण के माध्यम से आर्थिक संकेन्द्रन की शक्ति के क्षीण होने से) के आगे सब नाकाम हुआ. तकनीकें अधिक लिंग संवेदनात्मक हुईं, और तकनीक एक बिंदु/मानदंड के मूल्यांकन और विकल्प से अनेक मानदण्ड़ के मुल्यांकन में परिवर्तित हुई जिनका आधार सम्पोषण, न्यायसंगत और लोकतांत्रिक-रण के लिए चिंता से उत्पन्न सूचक बने.

ज्ञान और सूचना लोकतंत्र के सिद्धांतों को अपनाकर मीडिया का भी लोकतांत्रिकरण हुआ और उसमें भी विविधता आयी. मीडिया की शक्ति का केंद्रीयकरण जो सन 2000 की विशेषता थी, जिसका चरम अमेरिका के एक प्रेसिडेंट के शासन में देखने को मिला, उसका पतन हुआ, जिसका कारण बने, 'नैतिक हैकर', विकीलीक्स जैसी घटनायें, वैकल्पिक मीडिया की बढ़ती लोकप्रियता जिसने ज्ञान तक सामान्य जनता की पहुंच में विशेष भूमिका अदा की, वह तकनीक जिसके कारण सूचना और खबरों तक सभी की व्यापक पहुंच सम्भव हुई और राजनीतिक, आर्थिक और ज्ञान की शक्ति के गठजोड़ से उत्पन्न जनता

का असंतोष. तभी से मीडिया के सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक रूप से विविधता प्रमुख हो गयी, सामुदायिक रेडियो और नुक्कड़ नाटक और सार्वजनिक वीडियो से लेकर अखबार और पत्रिका और अन्य में। यही अद्भुत विविधता अन्य भाषाओं में भी दिखने लगी। इंटरनेट का भी लोकतांत्रिकरण हुआ और निर्विघ्न कार्य प्रणाली के लिए विभिन्न लोगों के हाथों में नियंत्रण की बागडोर पहुंची.

उपरोक्त कुछ भी संभव नहीं होता यदि राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन के लिए सख्त कदम नहीं उठाये गए होते। 21वीं सदी के शुरू के जन-आंदोलनों से यह समझ में आया कि लोकतंत्र, केवल चुनाव नहीं है! बल्कि उसका संबंध सभी जगह सामान्य लोगों से है जिनके पास निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी की शक्ति है. लोकतंत्र धीरे धीरे एक प्रकार से राजनीतिक स्वराज में अंतर्निहित हो रहा है, ऊपर से नीचे, ऐसी चुनाव आधारित व्यवस्था जिसमें शक्ति का विलय ग्राम सभा, मोहल्ला सभा, आदिवासी गांव और देहात-ग्रामीण समुदाय की सभाएं और उनके प्रतिनिधि, नियुक्ता से बनी बड़ी प्रतिनिधित्व संस्थाओं, में है। एक नारा जो भारत के एक छोटे से गांव, गडचिरोली के "मेंडा-लेखा", से निकला - ' हमारी सरकार दिल्ली और मुंबई में, हमारे गांव में हम ही सरकार ' - पूरे भारत में गूंजा, और इसमें संदर्भ के आधार पर विभिन्न बदलाव और सुधार हुए (' हम अपना गांव चलाते, और हमारे प्रतिनिधि नदी घाटी कमेटी में होते ', या 'हमारी नगरपालिका मुंबई में पर हमारे पड़ोस में हमारा निर्णय गिनती में '). प्रतिनिधित्व लोकतंत्र का आधार अब प्रत्यक्ष या तत्वरूप लोकतंत्र हो गया. प्रतिनिधित्व की राजनीति में बड़ा बदलाव होकर, "जमीनी स्तर की शक्ति पर आधारित" में स्थानांतरण हुआ, जिसमें जवाबदेही, पारदर्शिता और वापस बुलाने के अधिकार की सशक्त प्रक्रिया तय हुई; राजनीतिक दलों का उद्देश्य अब शक्ति प्राप्त करना (क्योंकि अब शक्ति का केंद्रीयकरण स्वीकार्य नहीं था) ना होकर सही सांस्कृतिक और सामाजिक प्रतिनिधित्व, वास्तविक नेतृत्व और सेवा के लिए प्रोत्साहन बना. इस प्रत्यक्ष या तत्वरूप लोकतंत्र का जो जमीन पर कायम था और उच्च स्तर पर जो प्रतिनिधि थे उनके बीच के रिश्ते में कहीं कुछ असहजता बनी रही, परंतु इसके कारण कुछ गंभीर

रुकावट नहीं आई, क्योंकि आप सब सशक्त जनों ने प्रतिनिधियों के सत्ता पर अधिकार को खुली छूट नहीं दी.
(विराम..... महासंगम के सदस्यों की तालियां और शोर सब ओर गूंजने लगा)

इस पूरे बदलाव में जो एक जटिल और अक्सर पूछे जाने वाला प्रश्न चर्चा में रहा, वह राज्य की भूमिका और अस्तित्व का था. विभिन्न स्तर की शासन तंत्र व्यवस्था की व्यापक परिभाषा से आप जानते हैं कि राज्य की भूमिका का अस्तित्व है परंतु केंद्रीयकृत, राष्ट्र-राज्य, जैसी भारी-भरकम भूमिका में जैसा वह पहले होता था, से बदलकर उसकी भूमिका ऐसे कई संस्थानों के रूप में हुई है जिनका काम समन्वय और सुविधा का है. उसके पास ऐसे कोई अतिरिक्त अधिकार नहीं हैं जो कि प्रत्यक्ष लोकतंत्र की किसी इकाई के ना हों. इसकी पृष्ठभूमि में 21वीं सदी के पहले हिस्से में हुआ विरोध और प्रतिवाद था, उदाहरण के लिए, वन विभाग द्वारा वन अधिकार कानून, जो कि सदी के पहले दशक में आया था, के अंतर्गत हुए वन प्रशासन के लोकतांत्रिकरण का विरोध, और दक्षिणपंथी सरकारों द्वारा बौद्धिक-कार्यकर्ता समाज के बढ़ते असंतोष पर शिकंजा कसने का प्रयास। लोगों की परिपक्वता से और इस दौर के बौद्धिक समाज के आंदोलनों के कारण आपस में मिलकर काम करना पहले से अधिक आसान हुआ और एक ऐसी राजनीतिक एकता बनी जिसने प्रत्यक्ष लोकतंत्र को प्रोत्साहित किया और राज्य द्वारा किये गए प्रयासों में सफलता हासिल की. इसके साथ क्षेत्रीय--पारिस्थितिक प्रशासन, और दक्षिण एशिया की राष्ट्र-राज्य सीमाओं पर पुनःविचार और शिथिलता के लिए हुए आंदोलनों (विश्व स्तर पर भी), जिस पर मैं कुछ देर में बात करूंगी, ने राज्य के स्वरूप को पुनः परिभाषित करने में मदद की. राज्य के चरित्र में आश्चर्यजनक बदलाव हुए - पूंजीवादी, उच्च जाति और पितृसत्तात्मक राज्य से, जैसे कि यह अधिकांश 20वें और 21वीं सदी के शुरू के हिस्से में था, राज्य और संस्थान मिलकर सभी वर्ग के लोगों के हित में काम करने के लिए आगे आए. उसकी भूमिका, बल के प्रयोगकर्ता से सुविधा में मददगार के रूप में बदल गयी, विभिन्न सरोकारों, विरोधियों इत्यादि को संगठित करने

में उसकी सक्रियता रही कि जहां तक सम्भव हो समुदाय के स्तर पर ही इन्हे सुलझा लिया जाए. स्पष्ट तौर पर, अब पुलिस की भूमिका के बारे में भी पुनर्विचार हो रहा है और दक्षिण एशिया के लोग मिलकर सेना की भूमिका पर भी चर्चा कर रहे हैं ; यदि हम सब सहमत हो जाएं, तो यह मानव इतिहास का एक सबसे बड़ा बदलाव होगा।

इससे आगे देखें तो "अपराध" का मुद्दा सामने दिखता है. मानव इतिहास के लंबे समय में जो कुछ भी सामान्य से विपरीत है वह अपराध की श्रेणी में आता है. सौभाग्य से, वर्ष 2100 के मध्य के जाग्रत नेतृत्व ने इस पर प्रश्न किया, और समय के साथ इस दृष्टिकोण में इस समझ के साथ कमी आई कि ' सामान्य व्यवहार जैसा कुछ नहीं है कि उसके विपरीत का कोई व्यवहार उल्लंघन की श्रेणी में रखा जाए और अपराध सिद्ध हो. विविधता को ना सिर्फ स्वीकार किया गया बल्कि सक्रियता से प्रोत्साहित भी किया गया. दूसरी तरफ जिस भौतिक स्थिति के कारण लोग ऐसी गतिविधियों के लिए मजबूर होते थे जिसमें दूसरे को कष्ट हो या हिंसा के रूप में रिश्तों पर असर पड़े या व्यक्ति चोरी, डकैती, घूस, तस्करी इत्यादि में संलग्न होने के लिए मजबूर हो, वह स्थिति अब नहीं रही. दूसरे शब्दों में कहा जाए तो किसी को भी अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए ऐसी गतिविधियों में संलग्न होने की आवश्यकता खत्म हो गई. इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि अब ऐसी कोई गतिविधि नहीं होती जो कि अपराध की श्रेणी में आए. हमें इस बात को समझना होगा कि मानव स्वभाव हमेशा ही बहुत उदार और सौम्य नहीं है, हालांकि पिछले कुछ दशकों में इन गुणों में काफी वृद्धि हुई है. कई बार हमारे पास कारण होते हैं कि हमें गुस्सा आता है, हम आहत होते हैं और शत्रुता और बदले की भावना से भर जाते हैं. तो 'अपराध' अभी भी हैं, एक दूसरे के हित आहत हों इस तरह के कुछ कृत्य में संलग्न हो, परंतु कई दशकों तक सकारात्मक और उदार पक्ष के प्रोत्साहन से, संसाधनों की प्राप्ति में प्रतिस्पर्धा के कम होने से, बहुत हद तक इन में कमी आई है. और, इन गतिविधि और घटनाओं से व्यवहार में भी परिवर्तन आया है. जो लोग ऐसी गतिविधि में संलग्न होते हैं अब उन्हें अपराधी नहीं माना जाता है और ना ही जेल में डाला जाता है. इसकी बनिस्पत यह समझा जाता है कि ऐसे लोगों को मदद की जरूरत है और

सामुदायिक परामर्श केंद्रों और पुनर्वास प्रक्रिया की मदद से उनकी यह समझ बन सके कि इस तरह के काम से दूसरा आहत हुआ है, और वे कैसे इस अभिवृत्ति या आवेग से मुक्त हों. ऐसे लोगों को कलंकित करने की बजाए इनके प्रति सहानुभूति और व्यवहारिक बदलाव पर जोर दिया जाता है. सन 2030 तक फांसी की सजा खत्म कर दी गयी थी और, शारीरिक दंड भी धीरे धीरे खत्म किया जा रहा है.

मैंने ' संस्कृति ' शब्द का पहली बार प्रयोग किया है, परंतु सिर्फ सरसरे तौर पर इसके बारे में कहना नाकाफी होगा. इन पूरे बदलावों का मजबूत आलम्ब भारत की अभूतपूर्व सांस्कृतिक विविधता और गहराई है. यह सब उत्सव और शक्ति का कारण बने, ना कि बंटवारे या विरोध का, जैसा कि यह 21वीं सदी के शुरू में दक्षिणपंथी राजनीतिक और सांस्कृतिक कट्टरता के चलते बन गया था. कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों और समूहों ने असहिष्णुता के उस दौर में इसके विरुद्ध आंदोलन किया, इस उद्देश्य से कि विभिन्न संस्कृतियां और पहचान अर्थपूर्ण सहभागिता और सीखने--सिखाने का स्त्रोत बने, और यकीनन खुशियों और उत्साह के स्त्रोत के रूप में देखी जाएं (सबके एक समान होने से सब कुछ कितना उबाऊ हो सकता है!). विभिन्न भाषाएं, खानपान, आध्यात्मिक या नैतिक मान्यताएं और ज्ञान व्यवस्था, जीवन जीने का और प्रेम का तरीका, यह सब और संस्कृति के अन्य पहलुओं को फिर एक बार सम्मान का स्थान दिया कि पूंजीवाद और आधुनिकता या दक्षिणपंथी ध्रुवीकरण की आंधी में इन को नष्ट होने से बचाया जा सके. इन सब में शिक्षा में बदलाव का कदम सबसे महत्वपूर्ण कदम रहा जिसमें कि स्थानीय भाषा, मौखिक ज्ञान परंपरा, स्थानीय प्रकृति व् पारिस्थिकीय की जड़ और स्थानीय तथा अन्य खानपान का जश्न, जातीयता और संस्कृति के अन्य पहलुओं को शामिल किया गया. 21वीं सदी में पहले से ही गुजरात एक संगठन ' भाषा ' और लद्दाख के "सेकमोल" संगठन ने इसकी राह दिखाई थी.

विविधता की भावना से, ऐसी कई विचारधाराओं का विकास हुआ जो कि समता और सामाजिक न्याय, संपोषण, लोकतांत्रिकरण, सम्मान, शांति, अहिंसा, और ऐसे अन्य सकारात्मक मूल्यों को बढ़ावा देती हैं. सन

2010 के बाद से हमने ऐसी प्रक्रियाओं को देखा जो कि जमीनी स्तर पर काम करने के बाद की परिकल्पना, किसी क्षेत्र में काम करने के बाद के संवाद, संकल्पना, मूल्य, भारत और विश्व में अन्य जगह पर रहने वाले लोगों के वैश्विक नजरिए, से निकलीं थीं. विद्यमान अध्यात्मिक और धर्मनिरपेक्ष दुनिया के नजरिए और पूर्व के महान चिंतक कार्यकर्ता विचारों के साथ, इन प्रक्रियाओं को जोड़कर मूल्यों और सिद्धांतों का संश्लेषण तैयार हुआ कि अनेक विचारधाराओं के पनपने और सहअ-स्तित्व की संभावना रहे. विकल्प संगम (वैकल्पिक संगम) और संगमों का संगम और 2010 के आखिरी वर्षों में हुए आंदोलनों का अभिसरण, यह महासंगम उन सब छोटी छोटी कड़ियों का विस्तार है. इसके द्वारा विविधता और अनेकता के बुनियादी मूल्य, एकता, देखभाल और साझा करना, निष्पक्षता, न्याय, जीवन का एकात्म, परस्परता और पारस्परि-कता, शांति, रचनात्मकता, मेहनत का सम्मान, सरलता, इत्यादि पुनः जीवित और पुनःस्थापित हुए. पूरे महाद्वीप में अब हमारे बीच लोगों के अनेक विविधता पूर्ण समूह हैं, परंतु ये सब समान विचारधारा, समझ, स्वीकार्यता और अन्य मूल्यों के धागे से बंधे हैं.

उपरोक्त के आधार पर, धार्मिक ध्रुवीकरण और अंतर धार्मिक संघर्ष अब कम हैं, क्योंकि हर व्यक्ति और समुदाय में अपनी आध्यात्मिक और नैतिक-स्व की शक्ति की समझ बनी है. प्रबुद्ध आध्यात्मिक नेतृत्व का अस्तित्व है परंतु उसके कट्टरवाद, अंधविश्वास की प्रबलता और अप्रजा-तांत्रिक संस्थाओं में बदलने के प्रयास, जिस प्रकार के धर्म की प्रबलता सन 2000 के शुरू में थी, को आंदोलनों के द्वारा निरंतर चुनौती दी गयी और विविधता और अनेकता के पक्ष में मजबूत तर्क रखे गए. कुछ समय तक तो, विज्ञान की समझ स्थापित करने और आध्यात्मिक मूल्य और नैतिकता स्थापित करने के आंदोलनों के बीच तनाव रहा क्योंकि इनको अध्यात्म और धर्म के विरुद्ध देखा गया (हालाँकि उनका काम अंधवि-श्वास और वहम को दूर करना था). परन्तु दोनों ओर के प्रबुद्ध नेतृत्व को यह समझ आया कि सहअस्तित्व न कि सम्भव है बल्कि आवश्यक भी है, विशेषकर विज्ञान और धार्मिक रूढ़िवादिता की पकड़ को कम करने के लिए. जलवायु संकट और पर्यावरण की चिंता को मुख्य धार्मिक

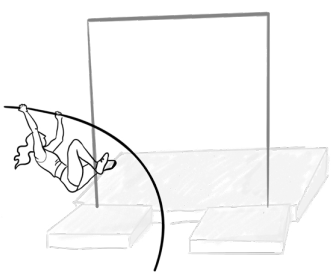

गुरुओं द्वारा अपने सम्बोधनों में प्रमुखता से शामिल किया गया (2010 के दशक में जैसे कि पोप, दलाई लामा, और अन्य कई इस्लाम और यहूदी धर्म के धार्मिक नेता), परम्परा से हटकर इन गुरुओं ने आपसी अंतर् पाटने का काम किया। आदिवासियों या जनजातियों की पहचान से और उनके प्रकृति आधारित विश्वास से इस प्रयास को गति मिली. 20वीं और 21वीं सदी के शुरू में संगठित, संस्थागत धर्म का जिस प्रकार आम लोगों के जीवन पर प्रभाव था, सदी का अंत होते होते उसमें बड़ी कमी आयी : बल्कि यह देखने में आया कि लोग अधिक 'आध्यात्मिक' हो गए हैं और जैसा पूर्व में महात्मा ज्योतिबा फुले ने कहा है, ' सत्य की खोज करने वाले ' (' सत्यशोधक ') बने हैं.

परन्तु सौंदर्य-बोध और मनोरंजन के बिना जीवन कैसा? कला और कौशल का क्षेत्र अविश्वसनीय विविधता से उन्नत हुआ है, उस अवनति के विपरीत जो पारंपरिक विधाओं में 20वीं सदी के उत्तरार्ध व 21वीं सदी के पूर्वार्ध में थी. जैसा पहले बताया है, इसका संबंध जीविका और काम के प्रकार में हो रहे बदलाव व सांस्कृतिक विविधता के पुनर्जीवन से भी था, और सामान्य जन की यह समझ भी बनी कि रचनात्मकता की हर किसी में आंतरिक क्षमता है और दैनिक जीवन में कला को शामिल करने की संभावना है. सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया शास्त्रीय और लोक कला, जैसे संगीत और नृत्य में के अंतर का खत्म होना है. साथ ही अन्य कलात्मक विधाओं में भी जाति और लिंग की पहचान खत्म हो रही है, सीखने के वै-कल्पिक केंद्र खुल रहे हैं जहां जिस किसी को भी रूचि है, उसे सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है. इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि उत्कृ-ष्टता और प्रतिभा की पहचान नहीं है ; यकीनन है, समाज में कई प्रकार से उनको पुरस्कृत किया जा रहा है और पहचान स्थापित की जा रही है, साथ ही प्रायोजन और संरक्षण के भी दरवाजे खुले हैं. हम इन संगम-महा-संगम कार्यक्रमों के उद्घाटन समारोह में भी ऐसा करते हैं ! शिक्षक-छात्र परम्परा में नए प्रकार की प्रक्रिया आई है जिसमें जाति, लिंग या अन्य समस्यात्मक पहचान के कालदोष नहीं है. यकीनन हम कला और मूल्य का संयोजन ज्यादा से ज्यादा देख पा रहे हैं, प्रकृति को कला और कला को सत्य मानने का दृष्टिकोण बना है : एक प्रकार का नैतिक सौंदर्य.

कला और कौशल की तरह, खेल के क्षेत्र में भी प्रतिभा में अभूतपूर्व प्रगति दिख रही है. वर्ष 2020 से 2030 के बीच खेल में अभिजात्य और अशिष्ट व्यवसायीकरण के विरुद्ध घृणा बढ़ने लगी, क्रिकेट को ऊँचे पायदान पर रखने का विरोध और प्रजातांत्रिक विस्तृत खेल सुविधा और प्रशिक्षण केंद्रों की मांग उठने लगी. हालांकि प्रतिस्पर्धा की भावना बनी रही, यह समझते हुए कि यह एक मानवीय पहलू है, ज्यादा जोर सहयोगात्मक खेलों और सहयोग की भावना को दिया जाने लगा जिसने आक्रामक प्रतिस्पर्धा की बुराई को संतुलित किया. राज्य पर निर्भरता को जन संरक्षण ने कम करने में बड़ी भूमिका निभाई, और निगमित प्रायोजन को खत्म किया. गोल्फ़ जैसे अभिजातीय खेलों में कमी आई क्योंकि समानता और प्रजातांत्रिक निर्णय का चलन आया. अब हमारी ऐसी स्थिति है जहां हर व्यक्ति किसी न किसी प्रकार का खिलाड़ी है, उत्कृष्टता की अभी भी सराहना है परंतु किसी खिलाड़ी को सुपर हीरो का दर्जा नहीं दिया जाता, और भारत के लोग वैश्विक स्पर्धाओं में अच्छा प्रदर्शन कर रहे हैं, व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धी के तौर पर ही नहीं बल्कि सहयोग के दूत के रूप में भी. मुझे कहते हुए खुशी हो रही है कि विशेष ज़रूरतमंद लोगों के प्रति संवेदनशील होने से और सहयोग की भावना बढ़ने से, 'सक्षम' और 'अक्षम्य' लोगों के बीच का फर्क अब खेलों में भी खत्म होने लगा है.

उपरोक्त जो सब मैंने कहा है वह उल्लेखनीय है. परंतु जो सबसे अधिक ध्यान देने वाली बात है वह दक्षिण एशिया में हमारे रिश्तों में बदलाव की है. जबकि भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका, और चीन ने अभी तक अपनी राष्ट्रीय पहचान को बना कर रखा है, सीमाओं में खुलापन आ गया है, सीमा को पार करने के लिए अब वीजा की जरूरत नहीं रही है. 21वीं सदी के मध्य में 20 वीं और 21 वीं सदी के शुरू की इस क्षेत्र की कई उत्पीड़ित राष्ट्रीयताएं अपना राजनीतिक भविष्य स्वयं चुनने में समर्थ हुई. इन सीमावर्ती क्षेत्रों, जो कि पहले संघर्ष के क्षेत्र थे, जैसे सियाचिन, कच्छ और थार मरुस्थल, और सुंदरबन (अंतिम क्षेत्र जल और भूमि के लिए गंभीर संघर्ष का स्थान बना, विशेषकर जलवायु संकट, वर्ष 2030 और 2040 के दशकों के दौरान) में स्थानीय समुदायों ने स्वयं को ' शांति अभयारण्य क्षेत्र ' घोषित करते हुए अभिशासनिक अधिकार अपने

हाथ में ले लिए. यही पाल्क स्ट्रेट पर भी लागू हुआ, जिसमें भारत और श्रीलंका दोनों देशों का मछुआरा समुदाय समुद्री क्षेत्र के संपोषित और शांतिपूर्ण उपयोग के लिए सशक्त हुआ. एक महान स्वशासित तिब्बत वास्तविक स्वरूप में अस्तित्व में आया, भारत और चीन, दोनों ने अपने राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव को त्यागा और आवश्यकतानुसार मदद भी की. भारत और पाकिस्तान, दोनों ही देशों का मवेशी चराने वाला, चरवाहा समुदाय भी स्वशासन के लिए सशक्त बना. इन सभी पहल में संकीर्ण राष्ट्रीयता का स्थान सभ्यता की पहचान, गौरव और बदलाव ने लिया, एक प्रकार की स्व-सभ्यता (स्वयं की जातीयता) जिसने सम्मान की और विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों के बीच सीखने सिखाने की भावना को प्रोत्साहित किया। घुमक्कड़ समुदाय और वन्य जीव अब इन क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से आ जा सकते हैं, पहले जैसे जब यह क्षेत्र विवादित और संघर्ष का नहीं रहा और कंटीले तारों से अलग विभक्त नहीं रहा. संक्षेप में कहा जाए तो, सीमाओं पर प्रकृति व् प्राकृतिक संसाधन - जैसे पानी, जंगल, प्रवासी प्रजातियां - उनको अधिक से अधिक क्षेत्रीय लोगों के स्व-प्रशासन के ढांचे के अंतर्गत ले लिया गया.

यकीनन भारत और शेष दक्षिण एशिया के लोग सीमा रहित विश्व की दिशा, यानि कठोर राज्य-राष्ट्र सीमाओं को धीरे-धीरे समाप्त करने की दिशा में अग्रणी रहे. दक्षिण एशिया ने यूरोपियन संगठन के केंद्रीयकृत--विकेंद्रीयकृत विशिष्ट मिश्रण और राष्ट्र-राज्य के ऊपर निरंतर रहने वाली निर्भरता, वाली गलतियों से सीख लेते हुए अपनी एकता और विविधता का सम्मान करते हुए अपनी दिशा स्वयं निर्धारित की. जैसा पहले बताया गया, इस सब का आधार पूर्व के राष्ट्र-राज्य सीमावर्ती क्षेत्रों का समुदाय--आधारित प्रशासन रहा. वर्ष 2100 के मध्य के लगभग, दक्षिण एशिया के जन आंदोलनों ने लोकतांत्रिक वैश्विक जन सभा की स्थापना में महत्व-पूर्ण भूमिका निभाई, जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ का स्थान लिया। इस सभा की प्रशासन व्यवस्था की नियमावली के अनुसार किसी व्यक्ति या समूह को स्थायी या लंबे समय के लिए पद या सत्ता के अधिकार नहीं हैं, प्रत्यक्ष लोकतंत्र और जमीन से जुड़ी क्षेत्रीय-पारिस्थितिक इकाई के प्रति वह जवाबदेह है, और इसका उद्देश्य केवल वैश्विक सांझा (समुद्र, पृथ्वी-स्तर

पारिस्थिकी इत्यादि) के प्रशासन जैसे महत्वपूर्ण क्रियाकलाप के लिए काम करना, और न्याय संगत और संपोषित सांस्कृतिक और आर्थिक संबंधों को सुगम करना है.

यह स्वीकार करना होगा कि दक्षिण एशिया में होने वाले सारे बदलाव के पीछे सिर्फ उसी क्षेत्र का योगदान नहीं है. हम स्वयं को प्राचीन सभ्यता (या अनेक सभ्यताएं), विश्व के सबसे बड़े ज्ञान का आधार, इत्यादि मानकर गर्व करते रहे हैं. हमारा यह गर्व तब टूट गया जब कई दशक पहले हमने यह समझा कि इन सब चीजों का कोई महत्व नहीं यदि हम निरंतर अपने पर्यावरण को खराब करते जाएंगे, आधे से ज्यादा हमारे लोगों का वंचित रहना हम सहन करेंगे, और अपने से कमज़ोर राष्ट्रों का शोषण करके हम अपने को औपनिवेशक राष्ट्र बनाना स्वीकार करेंगे. जब हम यह समझेंगे कि लोगों द्वारा विश्व में हो रही अनेक पहल से बहुत कुछ सीखा जा सकता है जैसे कि अन्य भी हम से सीखते हैं, तभी बदलाव अधिक प्रभावी और व्यापक हो पाएगा. फिर भी, मेरा मानना है कि वैश्विक वैकल्पिक संगम को शुरू करने में (अन्य के सहयोग से) हमारी भूमिका के लिए हम गर्व कर सकते हैं, जो कुछ दशक तक चला और बाद में वह वैश्विक जनसभा में समाविष्ट हो गया.

इस बात से मैं अपने अंतिम बिंदु पर आती हूं - परंपरा की खातिर, हम इन निर्बाध सम्मेलनों को विकल्प संगम या वैकल्पिक संगम बुलाते रहे हैं. जब यह शुरू हुए थे और इनके इतिहास को अगर हम देखें, तो यकीनन इन्होंने उस समय हावी हो रही अर्थव्यवस्था, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के विकल्प को बढ़ावा दिया. अब जबकि न्याय, समता और पारिस्थितिक समझ की प्रक्रिया की जड़ें मजबूत हुई हैं और पल्लवित हो रही हैं, मैं इस प्रस्ताव के साथ अपनी बात खत्म करती हूं कि हम अब इसके नाम में बदलाव करें। अगले संगम से, क्या हम इन्हें ' विविध कल्पना संगम बुला सकते हैं ?

आप सब को बहुत बहुत धन्यवाद, शुक्रिया, ज़िंदाबाद!